ज्योति शिखा

अंक: २७ वां दिसम्बर १९७२

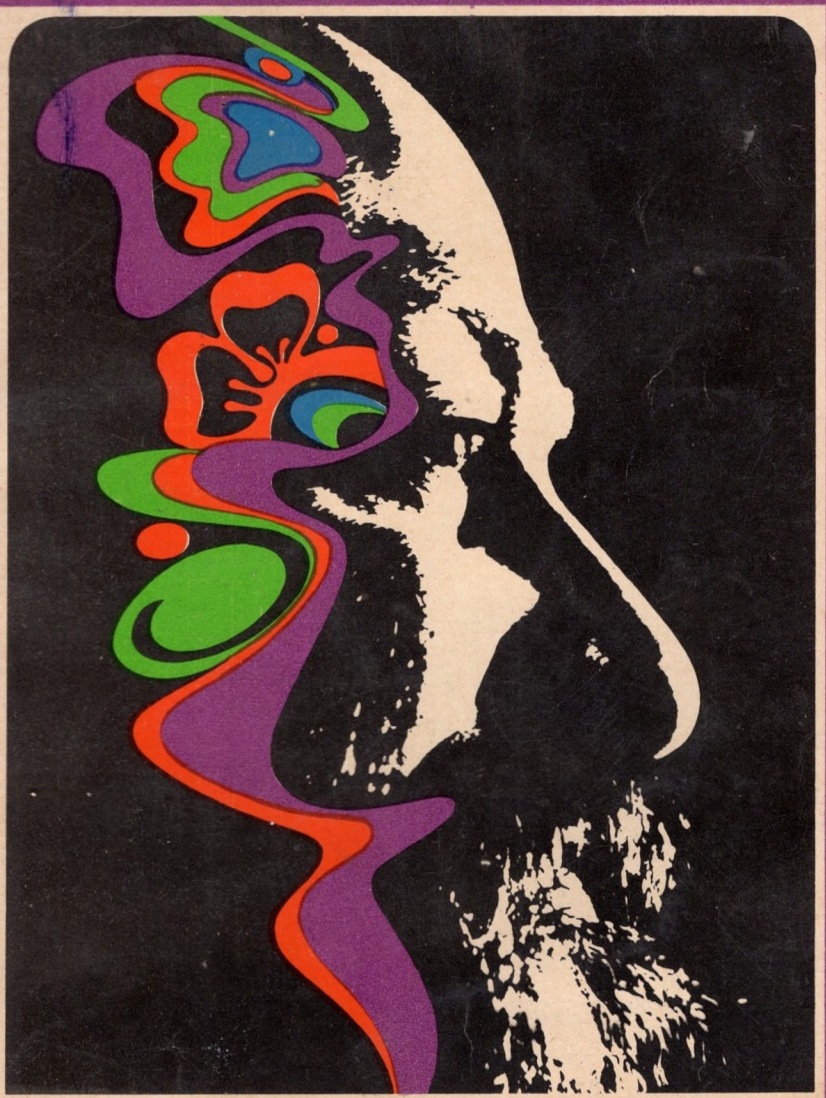

ज्योति शिखा

भगवान श्री रजनीश की अमृतवाणी का त्रैमासिक संकलन

सम्पादक :

मा योग क्रांति

स्वामी कृष्ण कबीर

वर्ष : ७ वाँ, अंक २७ : दिसम्बर १९७२

आवरण सज्जा : **अर्हत**

वार्षिक शुल्क : रुपये ८–००, एक प्रति : रु. २.००

प्रकाशक :

मंत्री, जीवन जागृति केंद्र, ३१, इजरायल मोहल्ला, भगवान भुवन, मस्जिद बन्दर रोड, बम्बई–९ फोन नं. ३२१०८५–३२७६१८

मुद्रक :

दि स्टेट पीपल प्रेस, जन्मभूमि भवन, घोगा स्ट्रीट, बम्बई-१.

अनुक्रम

१. जन्मदिन	स्वामी कृष्ण कबीर	३
२. मैं वही कहूंगा जो जानता हूँ	... ...	४
३. विनय-सम्पन्न व सुविनीत कौन है ? ...	मा योग क्रांति	७
४. रोचक स्मृतियाँ	मा योग क्रांति	४१
५. गंभीरता !	साधू राममूर्ति भारती	५९
६. मुल्ला नसरुद्दीन के झूठे लतीफे(!) ...	मा योग लक्ष्मी	६७
७. आइये, लाओत्से से पूछें	स्वामी आनंद मैत्रेय	७२
८. अज्ञात के हस्ताक्षर	स्वामी चैतन्य भारती	९३
९. भाव-पंक्तियाँ		
(१) गीत	साधू योग प्रीतम	९८
(२) अपरिचित	श्री. भारद्वाज	९९
(३) भजन .	साध योग प्रीतम	१००

जन्मदिन

नहीं– नहीं
मैं न कहूँगा
तेरा कोई जन्मदिन है,
क्योंकि मृत्युदिन भी तो जुड़ा है ;
देखता हूँ तुझे, भरोसा नहीं होता
कि तू कभी मरेगा ––
प्रतिपल जीना और मरना ही
तो स्वभाव है तेरा
जब भी देखता हूँ––
तो बहती नदी का पानी,
पैर रखते ही बह जाता है ––––
कहते हैं, रजनीश, भगवान है;
हाँ भी और नहीं भी ––
वहाँ निपट खालीपन है, शून्य है,
रजनीश: एक धोखा है .....

–स्वामी कृष्ण कबीर

मैं वही कहूँगा जो जानता हूँ

मैं वही कहूंगा जो मैं जानता हूँ। वही कहूँगा जो आप भी जान सकते हैं। लेकिन जानने से मेरा अर्थ है जीना। जाना बिना जिए भी जा सकता है।

ज्ञान होता है एक बोझ, उससे कोई डूब तो सकता है उबरता नहीं। जानना जीवंत भी हो सकता है। तब जो हम जानते हैं वह हमें करता है निर्भार, हल्का कि

हम उड़ सकें आकाश में। जीवन ही जब जानना बन जाता है, तभी पंख लगते हैं, तभी जंजीरें टूटती हैं। और तभी द्वार खुलते हैं अनन्त के, लेकिन जानना कठिन है। ज्ञान इकट्ठा कर लेना बहुत आसान, और इसलिए मन आसान को चुन लेता है। और कठिन से बचता है। लेकिन जो कठिन से बचता है वह धर्म से भी वंचित रह जाता है। कठिन ही नहीं जो असम्भव से भी बचना चाहते हैं वे भी कभी धर्म के पास नहीं पहुँच पाते। धर्म है भी उन्हीं के लिए जो असम्भव में उतरने की तैयारी रखते हैं।

धर्म है जुआड़ियों के लिए, दुकानदारों के लिए नहीं। धर्म कोई सौदा नहीं है। धर्म कोई समझौता भी नहीं है। धर्म तो है दाँव। जुआड़ी लगाता है धन को दाँव पर। धार्मिक लगा देता है स्वयं को, वही परम धन है। और जो अपने को ही दाँव पर लगाने को तैयार नहीं वह जीवन के गूढ़ रहस्यों को कभी जान नहीं पायेंगे। सस्ते नहीं मिलते हैं वे रहस्य, ज्ञान तो बहुत सस्ता मिल जाता है। ज्ञान तो मिल जाता है किताबों में, शास्त्रों में, शिक्षा में शिक्षक के पास, ज्ञान तो मिल जाता है। करीब-करीब मुफ्त, कुछ चुकाना नहीं पड़ता।

धर्म में तो बहुत कुछ चुकाना पड़ता है। बहुत कुछ भी कहना ठीक नहीं सभी कुछ दांव पर लगा दे कोई तो ही उस जीवन के द्वार खुलते हैं।

इस जीवन को दांव पर लगा देना ही उस जीवन के द्वार की कुन्जी है। लेकिन ज्ञान बहुत सस्ता है। इसलिए मन सस्ते रास्ते को चुन लेता है सुगम को। सीख लेते हैं हम बातें सिद्धान्त और सोचते हैं जान लिया। अज्ञान बेहतर है ऐसे ज्ञान से। अज्ञानी को कम से कम इतना तो पता है कि मुझे पता नहीं है। इतना सत्य तो कम से कम उसके पास है।

जिन्हें हम ज्ञानी कहते हैं उनसे ज्यादा असत्य आदमी खोजना मुश्किल है। उन्हें यह भी पता नहीं है कि मुझे पता है। सुना हुआ, याद दिया हुआ कंठस्थ हो गया है : धोखा देता है, ऐसा लगता है मैंने भी जान लिया।

मैं आप से वही कहूँगा जो मैं जानता हूँ। क्योंकि उसके कहने का ही कुछ मूल्य है। क्योंकि जिसे मैं जानता हूँ अगर आप तैयार हों तो उसकी जीवंत चोट आपके हृदय के तारों को भी हिला सकती है। जिसे मैं नहीं जानता जो मेरे कंठ तक ही हो वह आपके कानों से ज्यादा गहरा नहीं जा सकता। जो मेरे हृदय तक पहुँचता हो उसकी ही सम्भावना बनती है। अगर आप साथ दें तो वह आपके हृदय तक जा सकता है।

विनय-सम्पन्न व सुविनीत कौन है?

सकलन – मा योग क्रांत

[दिनांक ११--९--७२, महावीर-वाणी ८ वाँ प्रवचन, पाटकर हॉल]

(०) **विनय-सूत्र**–जो मनुष्य गुरु की आज्ञा पालता हो, उनके पास रहता हो, गुरु के इंगितों को ठीक-ठीक समझता हो तथा कार्य-विशेष में गुरु की शारीरिक अथवा मौखिक मुद्राओं को ठीक-ठीक समझ लेता हो, वह मनुष्य विनय– सम्पन्न कहलाता है ।

निम्नलिखित पन्द्रह लक्षणों से मनुष्य सुविनीत कहलाता है : उद्धत न हो, नम्र हो; चपल न हो, स्थिर हो; मायावी न हो, सरल हो; कुतूहली न हो, गंभीर हो; किसी का तिरस्कार न करता हो; क्रोध को अधिक समय तक न टिकने देता हो, मित्रों के प्रति पूरा सदभाव रखता हो; शास्त्रों से ज्ञान पाकर गर्व न करता हो; किसी के दोषों का भण्डा-फोड़ न करता हो; मित्रों पर क्रोधित न होता हो; अप्रिय मित्र की भी पीठ-पीछे भलाई ही गाता हो; किसी प्रकार का झगड़ा-फसाद न करता हो; बुद्धिमान हो; अभिजात अर्थात् कुलीन हो; आंख की शर्म रखने वाला एवं स्थिरवृत्ति हो ।

पहले एक प्रश्न– एक मित्र ने पूछा है कल के सूत्र में कहे गये श्रेयार्थी का क्या अर्थ है ? क्या श्रेयार्थी और साधक एक ही हैं ?

श्रेय और प्रेय का खोज

श्रेयार्थी शब्द बहुत अर्थपूर्ण है। इस देश ने दो तरह के लोग माने हैं। एक को कहा है प्रेयार्थी जो प्रिय को तलाश में है और दूसरे को कहा है श्रेयार्थी जो श्रेय की तलाश में है। दो ही तरह के लोग हैं जगत में। वे जो प्रिय की खोज करते हैं जो प्रीतिकर है, वही उनके जीवन का लक्ष्य है। लेकिन अनंत अनंत काल तक प्रीतिकर की खोज की तो जाए तो प्रीतिकर मिलता नहीं। जब मिल जाता है तो अप्रीतिकर सिद्ध होता है। जब तक नहीं मिलता है तब तक प्रीतिकर की संभावना बनी रहती है। मिलते ही जो प्रीतिकर मालूम होता था वह विलीन हो जाता है, तिरोहित हो जाता है। लगता है प्रीतिकर, चलते हैं तब भी आशा बनी रहती है। पा लेते हैं तब आशा खंडित हो जाती है डिसइलूजनमेन्ट (विभ्रम) के अतिरिक्त, सब भ्रम के टूट जाने के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगता है।

प्रेयार्थी इन्द्रियों को मान कर चलता है। जो इन्द्रियों को प्रीतिकर है उसको खोजने निकल पड़ता है। श्रेयार्थी की खोज बिलकुल अलग है। वह यह नहीं कहता कि जो प्रीतिकर है उसे खोजूंगा। वह कहता है जो श्रेयस्कर है, जो ठीक है, जो सत्य है, जो शिव है उसे खोजूंगा। चाहे वह अप्रीतिकार ही क्यों न आज मालूम पड़े। यह बड़े मजे की बात है। जीवन की गहनतम परस्थितियों में से एक कि **जो प्रीतिकर की खोज में निकलता है वह अप्रीतिकर को उपलब्ध होता है। जो सुख को खोजने निकलता है वह दुख में उतर जाता है।** जो स्वर्ग की आकांक्षा रखता है, नर्क का द्वार खोल लेता है। यह हमारा निरन्तर सभी का अनुभव है।

दूसरी घटना भी इतनी ही अनिवार्यरूपेण घटती है। श्रेयार्थी हम उसे कहते हैं जो प्रीतिकर को खोजने नहीं निकलता जो यह सोचता ही नहीं कि यह प्रीतिकर है या नहीं, सुखद है या दुखद। जो सोचता है यह ठीक है उचित है, सत्य है, श्रेय है, शिव है, इसलिए खोजने निकलता है। **श्रेयार्थी को खोज पहले अप्रीतिकर होती है। श्रेयार्थी के पहले कदम दुख में पड़ते हैं उन्हीं का नाम तप है।** तप का अर्थ है श्रेय की खोज में प्रथम ही दुख का मिलन होता है। होगा ही क्योंकि इन्द्रियां इन्कार करेंगी। इंद्रियां कहेंगी कि यह प्रीतिकर नहीं है छोड़ो इसे। अगर फिर भी आपने श्रेयस्कर को पकड़ना चाहा तो इन्द्रियां दुख उत्पन्न करेंगी। वे कहेंगी कि यह दुखद है छोड़ो इसे, सुखद कहीं और है। इन्द्रियों द्वारा खड़ा किया गया उत्पात ही तप बन जाता है। तप का अर्थ है कि इन्द्रियां अपने मार्ग से नहीं हटना चाहतीं और अगर आप किसी नये मार्ग को

खोजते हैं जो इन्द्रियों के लिए प्रीतिकर नहीं है तो इंद्रियां बगावत करेंगी । वह बगावत दुख है । इसलिए श्रेय की खोज में पहले दुख मिलेगा । लेकिन जैसे-जैसे खोज बढ़ती है दुख क्षीण होता चला जाता है ।

दुख क्षीण होता है इसका अर्थ है कि इंद्रियां धीरे धीरे एक नये मार्ग पर चेतना का अनुगमन करने लगती हैं । दुख खो जाता है और जिस दिन इंद्रियां चेतना का पूरा अनुगमन करती हैं उसी दिन सुख का अनुभव होता है । **श्रेयार्थी की खोज में पहले दुख है और पीछे आनन्द है । प्रेयार्थी की खोज में पहले सुख का आभास है और पीछे दुख ।** इंद्रियों की मानकर जो चलता है वह पहले सुख पाता हुआ मालूम पड़ता है पीछे दुख में उतर जाता है । इंद्रियों की मालकियत करके जो चलता है उसे जो पहले दुख मालूम पड़ता है पीछे आनन्द में बदल जाता है ।

श्रेयार्थी का अर्थ है जिसने जीवन के इस रहस्य को समझ लिया कि जो खोजो वह नहीं मिलता है । जिसे खोजने निकलो वह हाथ से खो जाता है । जिसे पकड़ना चाहो वह छूट जाता है । अगर सुख खोजते हो तो सुख नहीं मिलेगा इतना निश्चित है । लेकिन अगर कोई व्यक्ति दुख के लिए राजी हो जाय और दुख के लिए स्वयं को तत्पर कर ले दुख के प्रति वह जो सहज विरोध है मन का वह छोड़ दे तो सुख मिल जाता है । ऐसा क्यों होता होगा ? ऐसा होने का कारण क्या होगा ? होना तो यही चाहिए नियमानुसार कि हम जो खोजें वही मिल जाए । होना तो यही चाहिए कि जो हम न खोजें वह न मिले । ऐसा क्या है इसे थोड़ा हम समझ लें ।

इन्द्रियों का सुख नवीन आघात में

इंद्रियां अपना रस रखती हैं । आंख सुख पाती है कुछ देखने में । अगर रूप दिखाई पड़े तो आनंदित होती हैं । लेकिन वही रूप निरंतर दिखाई पड़ने लगे, तो आनन्द क्रमशः खोता चला जाता है क्योंकि जो चीज निरंतर उपलब्ध होती है वह देखने योग्य नहीं रह जाती । दर्शनीय तो वही है जो कभी कभी आकस्मिक मुश्किल से दिखाई पड़ती हो । आप जाते हैं कश्मीर और डल झील सुखद मालूम पड़ती है लेकिन वह जो आपकी नौका खे रहा है उसे डल झील दिखाई ही नहीं पड़ती । और कई बार उसे हैरानी भी होती है कि लोग कैसे पागल हैं इतनी दूर–दूर से इस डल झील को देखने आते हैं ।

इंद्रियां नवीन आघात में सुख पाती हैं । आघात सुनिश्चित, जब पुराना

पड़ जाता है तो उबानेवाला हो जाता है । आज जो भोजन आपने किया है वह सुखद है, कल भी वही परसों भी वही, दुखद हो जाएगा । इंद्रियों के लिए नये में सुख है ? इसलिए इंद्रियों के सभी सुख, दुख बन जायेगें । जैसे किसी से आपका प्रेम है तो लगता है कि चौबीस घंटे उसके पास बैठे रहें। भूल कर बैठना मत–क्योंकि चौबीस घंटे उसके पास बैठे रहे तो आज नहीं कल ये उबानेवाला हो जानेवाला है और आज नहीं कल ऐसा होगा कैसे छुटकारा हो । ये वही इंद्रियां हैं जो कहती हैं कि पास रहो। यही इंद्रियां कहेंगी कि भाग जाओ । दूर निकल जाओ । क्योंकि जो पुराना पड़ जाता है इंद्रियों को उसमें रस नहीं रह जाता पुराने के साथ ऊब पैदा हो जाती है । इसलिए इंद्रियाँ जिसे प्रीतिकर कहती हैं कल उसी को अप्रीतिकर कहने लगती हैं । इंद्रियों की तलाश प्रीति से प्रारम्भ होती है और अप्रीति पर अंत होता है । यह इंद्रियों का स्वभाव हुआ । इससे ठीक विपरीत स्थिति श्रेयार्थी की है ।

श्रेयार्थी जो परिवर्तनशील है उसकी खोज नहीं करता । जो नया है उसकी खोज नहीं करता । श्रेयार्थी तो उसकी खोज कर रहा है जो शाश्वत है, जो सदा है । प्रेयार्थी नये की खोज करता है । नया सेनसेशन, नई संवेदना, नया सुख, वह नये की तलाश में लगा है । श्रेयार्थी खोज कर रहा है–न नये की न पुराने की, क्योंकि श्रेयार्थी जानता है कि जो नया है अभी क्षण भर बाद पुराना हो जाएगा । जो भी नया है वह पुराना होगा ही । जिसको हम आज पुराना कहते हैं कल वह भी नया था । सब नया पुराना हो जाता है । नये में सुख था पुराने में दुख हो जाता है । श्रेयार्थी उसकी खोज कर रहा है जो शाश्वत है, सदा है,नित्य है । वह नया और पुराना नहीं है, बस है । इंद्रियां उसकी तलाश में कोई रस नहीं लेतीं । इंद्रियों को नये का सुख है । इसलिए जब कोई श्रेय की खोज में निकलता है, इंद्रियां मार्ग में बाधा बन जाती हैं । वे कहती हैं कहाँ व्यर्थ की खोज पर जा रहे हो ? सुख वहाँ नहीं है, सुख नये में है । श्रेयार्थी इंद्रियों की इस आवाज पर ध्यान नहीं देता । खोज में लगा रहता है ।

जो सत्य है उसके प्रारम्भ में दुख मालूम पड़ता है । धीरे धीरे इंद्रियाँ बगावत छोड़ देती हैं जिस दिन इंद्रियों की बगावत छूट जाती है उसी दिन शाश्वत से झलक मिलना, संबंध जुड़ना शुरू हो जाता है । **इंद्रियां जिस दिन बीच से हट जाती हैं उसी दिन जो सदा है उससे हमारा पहला संबंध होता**

है। वह संबंध बुद्ध ने कहा है, सदा ही सुखदाई है महासुखदायी है। क्योंकि वह कभी पुराना नहीं पड़ता, क्योंकि वह कभी नया नहीं था । वह है सनातन । श्रेयार्थी का अर्थ है सत्य की शाश्वत की तलाश, साधक ही उसका अर्थ है।

इन्द्रियों का मोह आवरण

प्रेयार्थी हम सब हैं, और अगर हम कभी श्रेय की खोज में जाते हैं तो प्रिय के ही लिए अगर हम कभी सत्य को भी खोजतें हैं तो इसीलिए कि स्वर्ग मिल जाए। अगर हम कभी ध्यान करने भी बैठते हैं तो इसीलिए कि सुख मिल जाए । **जो व्यक्ति सुख के लिए ही सत्य खोज रहा है वह अभी श्रेयार्थी नहीं है।** वह अभी प्रेयार्थी है । अगर परमात्मा का दर्शन भी कोई इसलिए खोज रहा है कि आंखों की तृप्ति हो जाए तो वह श्रेयार्थी नहीं है, प्रेयार्थी है। और प्रेयार्थी दुख पाएगा, परमात्मा भी मिल जाए तो भी दुख पाएगा, मोक्ष भी मिल जाए तो भी दुख पायेगा । क्या मिलता है इससे संबंध नहीं है, प्रेयार्थी का जो ढंग है जीवन को देखने का वह दुख में उतारनेवाला है, श्रेयार्थी का जो ढंग है जीवन को देखने का वह आनन्द में उतारनेवाला है। सुख को खोजोगे दुख पाओगे । सुख की खोजवाला मन ही दुख का निर्माता है ।

जितनी करेंगे अपेक्षा उतनी पीड़ा में उतर जाएंगें । अपेक्षा ही पीड़ा का मार्ग है । नहीं करेंगे अपेक्षा, नहीं बांधेंगे आशा, उसकी तलाश करेंगे जो है, यह तलाश कठोर है, (आर्डुअस) दुर्गम है। क्योंकि हम वह नहीं जानना चाहते जो है, हम वह जानना चाहते हैं जो हमारी इंद्रियां कहती हैं होना चाहिए । इसलिए हम सत्य के ऊपर इंद्रियों का एक मोह आवरण डाले रहते हैं। हम यह नहीं जानना चाहते क्या है? हम जानना चाहते हैं वही जो होना चाहिए । अगर मैं किसी व्यक्ति को भी देखता हूं तो उसको नहीं देखता जो वह है । मैं वही देखता हूं जो होना चाहिए । इसी से झंझट खड़ी होती है । आप मुझे मिलते हैं। आपको मैं नहीं देखता । मैं आप में उस सौन्दर्य को देख लेता हूं। जो मेरी इंद्रियाँ चाहती हैं कि हो, वह सत्य नहीं है । आपकी आखों में 'मैं' वह काव्य देख लेता हूँ जो वहाँ नहीं है । लेकिन मेरी मनोवासना देखना चाहती है कि हो। कल वह काव्य तिरोहित हो जाएगा । परिचय से टूट जाएगा। जानकारी से पहचान से आंखें, साधारण आंखें हो जाएंगी । और तब में पछताऊंगा कि धोखा हो गया । लेकिन किसीने मुझे धोखा दिया नहीं, धोखा मैंने खाया

है । मैंने वह देखना ही नहीं चाहा जो था । मैंने वह देख लिया जो होना चाहिए ।

मैंने अपना सपना आपमें देख लिया । अब यह सपना टूटेगा । सपने टूटने के लिए ही होते हैं । और जब वास्तविकता उघड़ कर सामने आएगी, तो लगेगा कि मैं किसी धोखे में डाल दिया गया । तब हमारी इंद्रियां कहती हैं कि धोखा दूसरे ने दिया । जहाँ काव्य नहीं था वहाँ काव्य दिखलाया । जहाँ सौन्दर्य नहीं था वहाँ सौन्दर्य दिखलाया । दूसरा आपको धोखा नहीं दे रहा है । इस जगत में सब धोखे अपने हैं । **हम धोखा खाना चाहते हैं । हम धोखा निर्मित करते हैं हम दूसरे के ऊपर धोखे को खड़ा करके धोखा खा लेते हैं फिर धोखे टूट जाते हैं और तब दुख है ।**

सपने बदल जाते हैं, सत्य सदा वैसा है

श्रेयार्थी का अर्थ है जो है वही मैं जानूंगा । कुछ भी मैं जोड़ूँगा नहीं । वह जो है – दैट व्हिच इज – उसको उखाड़ लूँगा, खोल लूँगा । उसको नग्न देख लूँगा जैसा है । उसमें जरा भी अपनी वासना अपनी कामना अपनी आकांक्षा नहीं जोड़ूँगा । कोई सपना नहीं डालूँगा, सत्य को वैसे देख लूँगा जैसा है । फिर कोई दुख होने वाला नहीं है । क्योंकि सत्य सदा वैसा ही रहेगा । **सपने बदल जाते हैं सत्य सदा वैसा है ।** किसी में आप मित्र देखते हैं किसी में शत्रु देखते हैं, वे सब आपके सपने हैं । किसी में सौन्दर्य, किसी में कुरूपता वे सब आपके सपने हैं, जो व्यक्ति उसे देखने लगता है जो है उसके लिए इस जगत फिर में कोई दुख नहीं है । क्योंकि जो है वह कभी भी बदलता नहीं ।

गुरू एक असाधारण घटना

इस सूत्र में उतरने के पहले कुछ बुनियादी बातें समझ लेनी जरूरी हैं । **पहली बात, गुरू की धारणा मौलिक रूप से भारतीय है । दुनिया में शिक्षक हुए हैं, गुरू नहीं । शिक्षक साधारण सी बात है । गुरू बड़ी असाधारण घटना है ।** शिक्षक और गुरू का शाब्दिक अर्थ एक है । लेकिन अनुभूति का अर्थ बिलकुल भिन्न है । शिक्षक से हम वह सीखते हैं जो वह जानता है । गुरू से हम वह सीखते हैं जो वह है । शिक्षक से हम जानकारी लेते हैं, गुरू से जीवन । शिक्षक से हमारा संबंध बौद्धिक है, गुरू से आत्मगत । शिक्षक

से हमारा संबंध आंशिक है, गुरू से पूर्ण । गुरू की धारणा मौलिक रूप से पूर्वीय है । पूर्वीय ही नहीं भारतीय है ।

गुरू जैसा शब्द दुनिया की किसी भाषा में नहीं है। शिक्षक, टीचर, मास्टर वे शब्द हैं, लेकिन गुरू जैसा कोई भी शब्द नहीं है। गुरू के साथ हमारे अभिप्राय ही भिन्न हैं। पहली बात शिक्षक से हमारा संबंध व्यावसायिक है। गुरू से हमारा संबंध व्यावसायिक नहीं है। आप किसी के पास कुछ सीखने जाते हैं। ठीक है लेन-देन की बात है। आप उससे कुछ सीख लेते हैं कुछ उसे भेंट कर देते हैं। बात समाप्त हो जाती है, यह व्यवसाय है। एक शिक्षक से आप कुछ सीखते हैं, सीखने के बदले में उसे कुछ दे देते हैं । बात समाप्त हो जाती है।

गुरू से जो हम सीखते हैं उसके बदले में कुछ भी नहीं दिया जा सकता। कोई उपाय देने का नहीं है। क्योंकि जो गुरू देता है उसका कोई मूल्य नहीं है। जो गुरू देता है उसे चुकाने का कोई उपाय नहीं है । उसे वापिस करने का कोई उपाय नहीं है । क्योंकि शिक्षक देता है सूचनाएं, जानकारियां (इनफर्मेशन) । गुरू देता है अनुभव । यह बड़े मजे की बात है, शिक्षक जो जानकारी देता है जरूरी नहीं कि वह जानकारी उसका अनुभव हो, आवश्यक नहीं जो शिक्षक आपको नीति शास्त्र पढ़ाता है और बताता है कि शुभ क्या है, अशुभ क्या है, नीति क्या है अनीति क्या है, जरूरी नहीं कि वह शुभ का आचरण करता हो। वह सिर्फ शिक्षक है। वह सिर्फ सूचन करता है।

गुरू जो कहता है वह सूचन नहीं है वह उसके जीवन का आविर्भाव है। तो हम बुद्ध को, महावीर को, कृष्ण को गुरू कहते हैं । गुरू का अर्थ यह है कि वे जो कह रहे हैं उन्होंने जिया है, जाना ही नहीं। जाननेवाले तो बहुत् गुरू हैं। वे गाँव गाँव में हैं। यूनिवर्सीटीज उनसे भरी हुई पड़ी हैं। वे शिक्षक हैं गुरू नहीं। जो कुछ जाना गया है वह उन्होंने संग्रहीत किया है वे आपको दे रहे हैं। वे केवल माध्यम हैं। उनके पास अपना कोई उत्स अपना कोई स्रोत नहीं है। वे उधार हैं। वे जो भी दे रहे हैं उन्होंने कहीं से पाया है। उन्हें किसी और ने दिया है। वे बीच के सेतु हैं जिनसे जानकारियां यात्राएं करती हैं। एक पीढ़ी मरती है तो जो भी वे पीढ़ी जानती है दूसरी पीढ़ी को दे जाती है। इस देने के क्रम में शिक्षक बीच का काम करता है। बीच की कड़ी का काम करता है । अगर बीच में शिक्षक

न हो तो पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी को सिखा नहीं सकती कि उसने क्या जाना। पुरानी पीढ़ी ने जो भी अनुभव किया है जो भी जाना है जो भी उघाड़ा है जो भी ज्ञान अर्जित किया है वह शिक्षक नई पीढ़ी को सौंपने का काम करता है।

गुरू, जो–पुरानी पीढ़ी ने जाना है उसको सौंपने का काम नहीं करता जो स्वयं उसने अनुभव किया है और यह जो स्वयं अनुभव किया है इसे सौंपने का सूचन की तरह कोई भी उपाय नहीं है । इसे तो जीवन की विधि के रूपान्तरण से ही दिया जा सकता है । एक शिक्षक के पास से हम ज्ञानी होकर लौटते हैं ज्यादा जानकर लौटते हैं, (लरनेड) होकर लौटते हैं । **एक गुरू के पास हम रूपान्तरित होकर लौटते हैं। पुराना आदमी मर जाता है नये का जन्म होता है । गुरू के पास जब हम जाते हैं तो हम वही नहीं लौट सकते हैं।** अगर हम गुरू के पास गये हों । गुरू के पास जाना कठिन मामला है । लेकिन अगर हम गुरू के पास गये हों तो जो जाता है वह कभी वापस नहीं लौटता । दूसरा आदमी वापस लौटता है ।

गुरू हमें मारता है और जिलाता है

शिक्षक के पास हम जाते हैं और जाना बहुत आसान है तो हम वही लौटते हैं जो हम गये थे और थोड़े से और समृद्ध होकर लौटते हैं। थोड़ा सा और ज्यादा जानकर लौटते हैं। हम जो थे उसी में शिक्षक जोड़ देता है। एडीशन। हम जो थे उसी में थोड़ा रंगरूप लगा देता है । वस्त्र ओढ़ा देता है हम जो थे उसमें और शिक्षक के द्वारा जो हम निर्मित होते हैं दोनों के बीच में कोई डिस्कन्टीन्यूटी कोई गैप, कोई खाली जगह नहीं होती है ।

गुरू के पास जब हम जाते हैं तो हम जो थे वह और आदमी था, और जो हम लौटते हैं वह और आदमी है । **गुरू हममें जोड़ता नहीं हमें मिटाता है और नया निर्मित करता है।** गुरू हमको संवारता नहीं हमें मारता है और जिलाता है। गुरू के पास जाने के बाद हमारे अतीत में और हमारे भविष्य में एक गैप एक अंतराल हो जाता है। लौटकर आप देखेंगे तो अपनी ही कथा ऐसी लगेगी कि किसी और की कहानी है, अगर गुरू के पास गये—अगर शिक्षक के पास गये तो अपनी कथा अपनी ही कथा है। बीच में कोई खाली जगह नहीं है जहां चीजें टूट गई हों । जहां आपका पुराना रूप बिखर गया हो

और नये का जन्म हुआ हो। इसलिए हमने इस मुल्क में एक शब्द खोजा था। वह है द्विज, द्विज का अर्थ है, ट्वाइस बॉर्न दुबारा जन्मा हुआ। दुबारा जन्मा हुआ वही आदमी है जिसे गुरू मिल गया। नहीं तो दुबारा जन्मा हुआ आदमी नहीं है। एक बार मां बाप जन्म देते हैं। वह शरीर का जन्म है। एक जन्म गुरू के निकट घटित होता है वह आत्मा का जन्म है। जब वह जन्म घटित होता है तो आदमी द्विज होता है उसके पहले आदमी एक–जन्मा है। उसके बाद दोहरा जन्मा हो जाता है। ट्वाइस बार्न हो जाता है।

गुरू के लिए हमने जैसी श्रद्धा की धारणा बनाई है वैसा पश्चिम के लोग जब सुनते हैं तो भरोसा नहीं कर पाते कि ऐसी श्रद्धा की क्या जरूरत है? जब किसी व्यक्ति से सीखना है तो सीखा जा सकता है। ऐसा उसके चरणों में सिर रख कर मिट जाने की क्या जरूरत है और उनका कहना भी ठीक है। सीखना ही है तो चरणों में सिर रखने की कोई भी जरूरत नहीं है अगर सीखना है तो सिर और सिर का संबंध होगा, चरणों और सिर के संबंधों की क्या जरूरत है? **लेकिन हमारी गुरू की धारणा कुछ और है यह सिर्फ सीखना नहीं है यह सिर्फ बौद्धिक आदान प्रदान नहीं है, यह संवाद बुद्धि का नहीं है दो सिरों का नहीं है। क्योंकि जो गहन अनुभव हैं, बुद्धि तो उनको अभिव्यक्त भी नहीं कर पाती।** जो गहन अनुभव हैं उनका संबंध तो हृदय से हो पाता है। बुद्धि से नहीं हो पाता। जो क्षुद्र बातें हैं वे कही जा सकती हैं। शब्दों में–जो विराट से संबंधित हैं गहन से ऊंचाई से अनंत गहराइयों से वे कही नहीं जा सकतीं शब्दों में लेकिन प्रेम में अभिव्यक्त की जा सकती हैं। तो गुरू और शिष्य के बीच जो सम्बन्ध है वह गहन प्रेम का है। शिक्षक और विद्यार्थी के बीच जो संबंध है वह लेन-देन का है। व्यावसायिक है बौद्धिक है। गुरू और शिष्य के बीच का जो संबंध है वह हार्दिक है।

शिष्य का अर्थ है जो झुक गया

ध्यान रहे जब बुद्धि देती है तो यह समतल पर घटित होता है। जब हृदय लेता-देता है तो यह समतल पर घटित नहीं होता। हृदय को लेना हो तो उसे पात्र की तरह खुला हुआ नीचे हो जाना पड़ता है जैसे पानी नीचे की तरफ बहता है। जब हृदय को लेना हो वर्षा हो रही हो तब पात्र को नीचे रख देना पड़ता है। पानी उसमें भर जाए पात्र को उस धारा के नीचे

होना चाहिए जहाँ से लेना है। अगर हृदय का लेन-देन है । बुद्धि का लेना समतल पर होता है । इसलिए पश्चिम में शिक्षक और विद्यार्थी के बीच कोई रिस्पेक्ट कोई समादर की बात नहीं है । और अगर कोई समादर है तो औपचारिक है। और अगर कोई समादर है तो कक्षा के भीतर है, बाहर तो कोई सवाल नहीं है।

पूर्व में गुरू और शिष्य का संबंध एक अखंड संबंध है

शिक्षक और विद्यार्थी का संबंध एक अखंड संबंध है । समग्र, यह जो हृदय का लेन देन है इसमें शिष्य को पूरी तरह झुक जाना जरूरी है । **शिष्य का अर्थ ही है जो झुक गया। हृदय के पात्र को जिसने चरणों में रख दिया। इस लिए लेन-देन में श्रद्धा अनिवार्य अंग हो गई।** श्रद्धा का केवल इतना ही अर्थ है, कि जिससे हम ले रहे हैं उससे हम पूरा लेने को राजी हैं। उसमें हम कोई जांच पड़ताल न करेंगे। इसका यह मतलब नहीं है कि जांच पड़ताल की मनाही ही है इसका केवल इतना ही मतलब है कि खूब जांच पड़ताल कर लेना। जितनी जांच पड़ताल करनी हो कर लेना । लेकिन जांच पड़ताल पूरी हो जाए और गुरू के करीब पहुँच जाओ और चुन लो कि यह रहा गुरू तो फिर जांच पड़ताल बंद कर देना चाहिए और पात्र को नीचे रख देना और अब सब द्वार खुले छोड़ देना ताकि गुरू सब मार्गों से प्रविष्ट हो जाए। जांच पड़ताल की मनाही नहीं है लेकिन उसकी सीमा है। खोज लेना पहले गुरू की खोज कर लेना जितनी बन सके। लेकिन जब खोज पूरी हो जाए और लगे कि यह आदमी रहा तो, तो फिर खोज बन्द करना फिर खोल देना अपने हृदय को ।

विनय शिष्य का लक्षण है

शिष्य इसलिए अलग शब्द है । उसका अर्थ विद्यार्थी नहीं है। **शिष्य विद्यार्थी नहीं है** विद्या नहीं सीख रहा है। **शिष्य जीवन सीख रहा है** और जीवन के सीखने का मार्ग शिष्य के लिए विनय है यह सूत्र विनय सूत्र है। इस में महावीर ने कहा है जो मनुष्य गुरू की आज्ञा पालता हो । उनके पास रहता हो गुरू के इंगितों को ठीक-ठीक समझता हो तथा कार्य विशेष में गुरू को शारीरिक अथवा मौखिक मुद्राओं को ठीक ठीक समझ लेता हो वह मनुष्य विनय सम्पन्न कहलाता है **विनय शिष्य का लक्षण है** हूमिलिटीं हम्बुलनेस झुका हुआ

होना, समर्पित भाव, इन शब्दों को हम एक-एक समझ लें जो गुरू की आज्ञा पालता हो । गुरू कहे बैठ जाओ तो बैठ जाए, कहे खड़ा हो जाओ तो खड़ा हो जाए । इसका अर्थ आज्ञापालन नहीं है । आज्ञापालन का अर्थ तो है जहां आपकी बुद्धि इन्कार करती हो वहां पालन ।

सुना है मैंने बायजीद अपने गुरू के पास गया । तो गुरू ने पूछा निश्चित ही तुम आ गये हो मेरे पास । तो वस्त्र उतार दो नग्न हो जाओ जूता हाथ में ले लो, अपने सिर पर मारो और पूरे गांव का एक चक्कर लगाओ और भी लोग वहां मौजूद थे । उसमें से एक आदमी के बरदाश्त के बाहर हुआ । उसने कहा यह क्या मामला है ? कोई अध्यात्म सीखने आया है कि पागल होने । लेकिन बायजीद ने वस्त्र उतारने शुरू कर दिये । उस आदमी ने बायजीद को कहा ठहरो भी पागल तो नहीं हो । और बायजीद के गुरू को कहा कि यह आप क्या करवा रहे हैं । जरा ज्यादा थोड़ा ज्यादा हो गया फिर बायजीद की गांव में प्रतिष्ठा है । क्यों उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिलाते हो । लेकिन बायजीद नग्न हो गया उसने हाथ में जूता उठा लिया । वह गांव के चक्कर पर निकल गया । वह अपने सिर पर जूता मारता जा रहा है । गांव में भीड़ इकट्ठी हो गई । पागल हो गया है बायजीद लोग हंस रहे हैं, लोग मजाक उड़ा रहे हैं । किसी को समझ में नहीं आ रहा क्या हो रहा है वह पूरे गाँव में चक्कर लगा कर अपनी सारी प्रतिष्ठा को धूल में मिला के, मिट्टी होकर वापस आ गया । गुरू ने उसे छाती से लगा लिया ।

शिष्य का अर्थ ही है जो झुक गया । हृदय के पात्र को जिसने चरणों में रख दिया । इस लिए इस लेन-देन में श्रद्धा अनिवार्य हो गई ।
गुरू हमको संवारता नहीं हम को मारता है और जिलाता है ।

और गुरू ने कहा बायजीद अब तुझे कोई भी आज्ञा न दूंगा ।
पहचान हो गई । अब काम की बात शुरू हो सकती है ।

आज्ञा का अर्थ है जो एबसर्ड मालूम पड़े, जिसमें कोई संगति न मालूम पड़े क्योंकि जिसमें संगति मालूम पड़े आप खुद मत सोचना आपने आज्ञा मानी आपने अपनी बुद्धि को माना । अगर मैं आपसे कहूं कि दो और दो चार होते हैं यह मेरी आज्ञा है और आप कहें कि बिलकुल ठीक मानते हैं आपकी आज्ञा दो और दो चार होते हैं । आप मुझे नहीं मान रहे आप अपनी बुद्धि

को मान रहे हैं। और मैं कहूँ दो और दो पांच होते हैं और आप कहें कि दो और दो पांच होते हैं तो आज्ञा मानी आपने

बाईबल में घटना है, एक पिता को आज्ञा हुई कि वह जाकर अपने बेटे को फलंफलां वृक्ष के नीचे काटकर और बलिदान कर दे। उसने अपने बेटे को उठाया फरसा लिया और जंगल की तरफ चल पड़ा। सोरेन किर्कगार्ड ने इस घटना पर बड़े महत्वपूर्ण काम किए हैं बड़े गहरे काम किये हैं। यह बात बिलकुल फिजूल है। क्योंकि सोरेन किर्कगार्ड कहता है उस पिता को यह तो सोचना ही चाहिए था कहीं यह आज्ञा मजाक तो नहीं है। यह तो सोचना ही चाहिए था कहीं यह आज्ञा अनैतिक कृत्य है कि पिता बेटे को हत्या कर दे। कुछ तो विचारना था लेकिन उसने कुछ भी न विचारा फरसा उठाया और बेटे को लेकर चल पड़ा। यह हमें भी लगेगा कि जरूरत से ज्यादा बात है और यह तो अंधापन है। यह तो मूढ़ता है। लेकिन किर्कगार्ड भी कहता है कि ये सारा परीक्षण पहले कर लेना चाहिए। लेकिन एक बार परीक्षण पूरा हो गया हो तो फिर छोड़ देनी चाहिए सारी बात अगर परीक्षण सदा ही जारी रखना है तो गुरू और शिष्य का संबंध कभी भी निर्मित नहीं हो सकता :

महत्त्वपूर्ण वह संबंध निर्मित होना है। वक्त पर खबर आ गई कि हत्या नहीं करना है फरसा उठ गया था और गला काटने के करीब था। लेकिन ये गौण बात है। पिता अपने बेटे को लेकर, वापस लौट आया है लेकिन अपनी तरफ से हत्या करने की आखिरी सीमा तक पहुंच गया था फरसा उठ गया था और गला काटने के करीब था। यह घटना तो सूचक है। शायद ही कोई गुरू आपको कहे कि जाकर बेटे की हत्या कर आएं। लेकिन घटना में मूल्य सिर्फ इतना है कि अगर ऐसा भी हो तो आज्ञा पालन ही शिष्य का लक्षण है।

पहले ही सूत्र के हिस्से में आज्ञा को इतना मूल्यवान महावीर क्यों कह रहे हैं? आपकी बुद्धि जो-जो समझ सकती है इस जगत में वह जैसे-जैसे आप भीतर प्रवेश करेंगे उसकी समझ क्षीण होने लगेगी वहाँ काम नहीं करेगी और **अगर आप यही भरोसा मानकर चलते हैं कि मैं अपनी बुद्धि से ही चलूंगा तो बाहर की दुनिया तो ठीक, भीतर की दुनिया में प्रवेश नहीं** हो सकेगा। भीतर तो घड़ी-घड़ी ऐसे मौके आएंगे जब गुरू कहेगा करो और तब आपकी

बुद्धि बिलकुल इन्कार करेगी कि मत करो। क्योंकि ध्यान की थोड़ी गहराई बढ़ेगी तो लगेगा कि मौत घट जाएगी।

अब आपका कोई अनुभव नहीं है। जब भी ध्यान गहरा होगा तब मौत का अनुभव होगा । ऐसा लगेगा कि मरे गुरू कहेगा मरो, बढ़ो, मरोगे ही न, मर जाना । तब आपकी बुद्धि कहेगी कि अब यह क्या हो रहा है? अब आगे कदम नहीं बढ़ाया जाता । बेटे की हत्या करना इतना कठिन नहीं अगर खुद के मरने की भीतर घड़ी आये तब। बेटा फिर भी दूर है। और बेटे की हत्या करनेवाले बाप मिल जाएंगे। ऐसे तो बाप थोड़ी बहुत हत्या करते हैं लेकिन वह अलग बात है। बाप की हत्या करने वाले बेटे मिल जाएंगे। **एक सीमा पर सभी बेटे बाप से छुटकारा चाहते हैं।** लेकिन वह अलग बात है। लेकिन आदमी जब अपनी ही हत्या पर उतरने की स्थिति में आ जाता है और जब ध्यान में ऐसी घड़ी आ जाती है कि अब शरीर छूट तो नहीं जाएगा? सांस बंद तो नहीं हो जाएगी? तब आपकी बुद्धि कोई उपयोग की नहीं। क्योंकि आपका कोई अनुभव काम नहीं पड़ेगा। वहां गुरू कहता है कि ठीक है। हो जाने दो बन्द सांस। उस वक्त क्या करियेगा अगर आज्ञा मानने की आदत न बन गई हो।

ध्यान मे मृत्यु पहली दफे जीवन का स्वाद

अगर गुरू के साथ असंगत में भी उतरने की तैयारी न हो गई हो तो आप वापस लौट आएंगे, आप भाग जाएंगे उस वक्त तो मुत्यु को एक किनारे रखकर वह गुरू जो कहता है वही ठीक है । और बड़े मजे की बात है कि आप मरेंगे नहीं बल्कि **इस ध्यान में जो मृत्यु घटेगी इससे ही आप पहली दफे जीवन का स्वाद, जीवन का अनुभव कर पाएंगे।** लेकिन उसके लिए आपकी बुद्धि कोई भी तो सहारा नहीं दे सकती। बुद्धि तो वहीं तक है सहारा दे सकती है जो जानती है । यह आपने कभी जाना नहीं है । यह तो मामला ठीक ऐसा ही है कि बेटा बाप का हाथ पकड़ लेता है और पीछे फिर फिकर छोड़ देता है कि ठीक बाप साथ है अब चिन्ता नहीं है जंगल में शेर भी चारों तरफ भटक रहें हों तो बेटा गुनगुनाता हुआ गीत गाता बाप का हाथ पकड़कर चलता है। बाप के हाथ में हाथ है बात खतम हो गई। अगर बाप उससे कह दे ये सामने जो शेर आ रहा है इससे गले मिल लो तो बेटा मिल लेगा ।

आज्ञा का अर्थ है असंगत घटनाएं घटेंगी साधना में, जिनके लिए बुद्धि कोई तर्क नहीं खोज पाती तब कठिनाइयां शुरू होती हैं। तब संदेह पकड़ना शुरू होता है। तब लगता है भाग जाओ इस आदमी से, बच जाओ इस आदमी से तब बुद्धि बहुत-बहुत उपाय करेगी। यह आदमी गलत है इसकी बात मत मानो। तब बुद्धि ऐसी पच्चीस बातें खोज लेगी जिनसे यह सिद्ध हो जाए कि यह आदमी गलत है इसलिए इसकी बात मानना भी उचित नहीं। छोड़ दो इसलिए महावीर कहते हैं कि जो मनुष्य गुरू की आज्ञा पालन करता हो उसके पास रहता हो—पास रहना बड़ी कीमती बात थी। पास रहना **एक आंतरिक घटना है। शारीरिक रूप से पास रहना, रहने का उपयोग है लेकिन अत्मिक रूप से मानसिक रूप से पास रहने का बहुत उपयोग है।**

यह जो जीवन की आत्यंतिक कला है इसे सीखना हो तो गुरू के इतना पास होना चाहिए जितने हम अपने भी पास नहीं। जैसे कोई आपकी छाती में छुरा भोंके तो गुरू का स्मरण पहले आया बाद में अपना कि अब मैं मर रहा हूं। यह अर्थ हुआ पास रहने का। पास रहने का मतलब है एक आंतरिक निकटता-सामीप्य। हम अपने से भी ज्यादा पास, अपने से भी ज्यादा भरोसा, अपने से भी ज्यादा स्मरण, यह जो घटना है पास होने की, निकट होने की, यह शरीरिक तल पर भी बड़ी मूल्यवान है। इसलिए गुरू के पास शारीरिक रूप से रहने का बड़ा अर्थ है। —महावीर के साथ दस हजार साधु साध्वियों का समूह चलता था ? महावीर के पास होना ही मूल्य था उसका। क्या अर्थ है इस पास होने का। **इस पास होने का एक ही अर्थ है कि मेरे मैं की जो आवाज है वह धीरे धीरे कम हो जाए।**

हम जब भी बोलते हैं तो मैं हमारा केन्द्र होता है। गुरू के पास रहने का अर्थ है मैं केन्द्र न रह जाए, गुरू केन्द्र हो जाए। महावीर के पास दस हजार साधु साध्वियां हैं। उनका अपना होना कोई भी नहीं है, महावीर का ही होना सब कुछ है। बुद्ध एक गांव के बाहर ठहरे हैं हजारों भिक्षु भिक्षुणियां उनके पास हैं। गांव का सम्राट मिलने आया है। पास आकर उसे शक होने लगा। आम्रकुंज है उसके बाहर आकर उसने अपने वजीरों को कहा, मुझे शक होता है उसमें कोई धोखा तो नहीं है क्योंकि तुम कहते थे कि हजारों लोग ठहरे हुए हैं लेकिन आवाज जरा भी नहीं हो रही है। जहाँ हजारों लोग ठहरे हुए हों और तुम कहते हो यह जो आम की कतार है उनके पीछे कहीं वन में वह लोग ठहरे हैं। जरा भी आवाज नहीं है मुझे शक होता है। उसने तलवार खींच ली। उसने

कहा कि इसमें कोई षडयंत्र तो नहीं है।

वजीरों ने कहा आप निश्चिन्त रहें वहाँ सिर्फ एक ही आदमी बोलता है बाकी सब चुप हैं। बुद्ध के सिवा वहाँ कोई बोलता ही नहीं। और जंगल में शान्ति है क्योंकि बुद्ध नहीं बोल रहे होंगे। और तो वहाँ कोई बोलता ही नहीं। मगर वह जो सम्राट था उसका नाम था अजातशत्रु। नाम भी बड़े मजेदार देते हैं जिसका कोई शत्रु पैदा न हुआ हो। हालांकि शान्ति में भी उसे शत्रु दिखाई पड़ता है, सन्नाटे में भी। लेकिन वह तलवार निकाले ही गया। जब उसने देख लिया कि हजारों भिक्षु बैठे हैं चुपचाप। बुद्ध एक वृक्ष की छाया में बैठे थे। तब उसने तलवार भीतर की। तब बुद्ध से पहला प्रश्न यही पूछा, इतनी चुप्पी, इतना मौन क्यों? इतने लोग हैं कोई बातचीत नहीं, कोई चर्चा नहीं, दिन रात ऐसे बीत जाते हैं। बुद्ध ने कहा ये लोग मेरे पास होने के लिए यहाँ हैं। अगर ये बोलते ही रहें तो ये अपने ही पास रहेंगे।

यह अपने को मिटाने के लिए यहां आयें हैं। ये यहाँ हैं ही नहीं, बस इस जंगल में जैसे मैं ही हूँ और ये सब मिटे हुए शून्य हैं। ये अपने को मिटा रहे हैं **जिस दिन ये पूरे बिखर जाएंगे उस दिन ही ये मुझे पूरा समझ पाएंगे, और जो मैं इनसे कहना चाहता हूं वह इनके मौन में ही कहा जा सकता है।** और अगर मैं शब्द का भी उपयोग करता हूँ तो वह यही समझाने के लिए कि वे कैसे मौन हो जाएं। शब्द का उपयोग करता हूं मौन में ले जाने के लिए फिर मौन का उपयोग करूँगा सत्य में ले जाने के लिए। शब्द से कोई सत्य में ले जाने का उपाय नहीं। शब्द से मौन में जाया जा सकता है। बस शब्द की इतनी ही सार्थकता है आपकी समझ में आ जाए कि चुप हो जाना है। फिर सत्य में ले जाया जा सकता है। सामीप्य का यह अर्थ है।

बीच का फासला अब कोई फासला नहीं

सारीपुत्त बुद्ध का खास शिष्य था। जब वह स्वयं बुद्ध हो गया तो बुद्ध ने कहा कि सारीपुत्त तू जा और मेरे संदेशों को लोगों तक पहुँचा। सारीपुत्त उठा नमस्कार करके चलने लगा। आनन्द बुद्ध का दूसरा प्रमुख शिष्य था उसे अब तक ज्ञान नहीं हुआ था। उसने बुद्ध से कहा इस भांति मुझे कभी दूर मत भेज देना। मेरी प्रार्थना है इतना ख्याल रखना कभी मुझे ऐसी आज्ञा मत देना कि

दूर चला जाऊं। मैं तो समीप ही रहना चाहता हूँ। बुद्ध ने कहा तू समीप नहीं है इसलिए समीप रहना चाहता है। सारीपुत्त उठा और चल पड़ा। वह कहीं भी रहे वह मेरे समीप ही रहेगा। **बीच का फासला अब कोई फासला नहीं है।** सारीपुत्त चल पड़ा। वह गाँव गाँव जगह जगह संदेश देता रहा। लेकिन रोज सुबह जैसे वह उठ कर बुद्ध के चरणों में सिर रखता था। जिस दिशा में बुद्ध होते रोज सुबह उठकर उनके चरणों में सिर रखता। उसके शिष्य उससे पूछते, सारीपुत्त अब तो तुम भी स्वयं बुद्ध हो गए। अब तुम किसके चरणों में सर रखते हो? अब क्या है जरूरत? सारीपुत्त कहता जिनके कारण मैं मिट सका, जिनके कारण मैं समाप्त हुआ, जिनके कारण मैं शून्य हुआ। फिर उसके शिष्य कहते कि बुद्ध तो बहुत दूर हैं, सैकड़ों मील दूर हैं यहाँ से, तुम्हारे चरणों में किये गए प्रणाम कैसे पहुंचेंगे। तो सारीपुत्त कहता अगर वे दूर होते तो उन्हें मैं छोड़ कर ही न आता। छोड़ कर आ सका इसी भरोसे कि अब कहीं भी रहूं अब वे मेरे पास हैं।

एक संबंध है बाहर का जो शरीर से होता है। शरीर कितना ही निकट आ जाए तो भी दूरी बनी रहती है शरीर के साथ कोई निकटता हो ही नहीं पाती। कितने ही निकट ले आओ, आलिंगन कर लो किसी का, फिर भी बीच में एक फासला बना ही रहता है। **दो शरीर कभी भी एक शरीर नहीं हो पाते। हो नहीं सकते। शरीर का होना ही पार्थक्य है।** फिर एक और आंतरिक सामीप्य है। सारीपुत्त उसी की बात कर रहा है। वह कह रहा है कि अब फासले टूट गए। अब कोई स्पेस, अब कोई जगह बीच में नहीं है। अब मैं नहीं हूं, बुद्ध ही हैं या कहूं कि मैं हूं बुद्ध नहीं हैं एक ही बात है।

इससे भी ज्यादा मजेदार घटना तो तब घटी, कहते हैं महाकाश्यप अपने ही पैर छू लेता था। लोगों को बहुत अजीब लगता होगा। महाकाश्यप बुद्ध का दूसरा शिष्य था। और शायद उनके सारे शिष्यों में अद्भुत था। महाकश्यप अपने ही पैर छू लेता था और लोगों ने कहा कि यह तुम क्या करते हो? वह कहता कि बुद्ध के चरण छू रहा हूँ। लोग कहते हैं यह पैर तुम्हारे है। महाकाश्यप कहता कि अब उनसे इतनी निकटता हो गई है कि वे भीतर ही हैं, पैर उनके ही हैं। महाकाश्यप कहता मैं किसी के भी पैर छुऊँ बुद्ध के ही पैर हैं। इतनी समीपता भी बन सकती है। **इस सामीप्य में ही संवाद है।** इसलिए महावीर कहते हैं उनके पास रहता हो, उनके निकट होता हो,।

शरीर की भी भाषा होती है

इस निकटता में भौतिक निकटता ही अंतरनिहित नहीं है, आंतरिक सामीप्य भी, वही वस्तुतः अंत में। गुरू के इंगितों को ठीक ठीक समझता हो, हम तो गुरू के शब्द को भी ठीक से नहीं समझ पाते इंगित तो बड़ी और बात है, इंगित का अर्थ है इशारा। जो कहा नहीं गया है फिर भी दिया गया है। शायद इतना बारीक है कि कहने में टूट जाएगा, इसलिए कहा नहीं गया, सिर्फ दिया गया। शायद इतना सूक्ष्म है, कि शब्द उसके सौन्दर्य को नष्ट कर दे, स्थूल बना देंगे इसलिए सिर्फ इशारा दिया गया। जो गुरू है वह धीरे धीरे शब्दों का सहारा छोड़ता जाता है। जैसे जैसे शिष्य विनीत होता है, जैसे जैसे शिष्य झुकता है वैसे वैसे गुरू शब्दों का सहारा छोड़ता जाता है। इंगित महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, इशारे महत्वपूर्ण हो जाते हैं। शब्द भी इशारे हैं लेकिन बहुत स्थूल, बहुत ऊपरी। बुद्ध कैसे चलते हैं, महावीर कैसे बैठते हैं, महावीर कैसे उठते हैं, महावीर कैसे सोते हैं इन सबमें उनके इंगित हैं। बुद्ध कैसे हाथ उठाते हैं, कैसे आंख उठाते हैं, कैसे आंखें उनकी झपकती हैं उस सब में उनका इंगित है। धीरे धीरे जो उनके पास हैं उनके शरीर की भाषा को समझने लगते हैं।

हमारी भी शरीर की भाषा तो होती है। हमें भी पता नहीं होता। हमारे शरीर की भी भाषा होती है और अब तो पश्चिम में एक साइंस है किनेटिक्स निर्मित हो रही है जो शरीर की भाषा पर निर्भर है (बाडी लांगुएज) और हम सब शरीर से भी सोचते रहते हैं, कभी आपने ख्याल न किया होगा कि बच्चे शरीर की भाषा को बिलकुल ठीक से समझते हैं। फिर धीरे धीरे शब्द सीखने लगते हैं और शरीर की भाषा भूल जाते हैं। इसलिए बच्चों के साथ मां बाप को कभी कभी बड़ा स्ट्रेन्ज बड़ा विचित्र अनुभव होता है कि मां मुस्करा रही है चेहरे से लेकिन बच्चा समझता है कि वह क्रोध में है। मां अब थपका रही है, खिलौने मंगाऊंगी बाजार से और बड़ी प्रसन्नता दिखा रही है जैसे बच्चे से बड़ा प्रेम हो लेकिन बच्चा समझ लेता है कि यह सब धोखा है क्योंकि वह जो कह रही है उसके हाथ की थपकी से पता नहीं चलता।

बच्चे तो पहले बाडी लांगुएज सीखते हैं शरीर की भाषा सीखते हैं। बच्चे जानते हैं कि मां जब उन्हें दूध पिला रही है। तो बच्चे उसके स्तन का इशारा भी समझते हैं कि इस वक्त वह प्रसन्न है, नाखुश है। पिलाना चाहती है कि नहीं पिलाना चाहती, हट जाना चाहती है कि पास आना चाहती है। वह सब समझता है। क्योंकि

पहली भाषा उनके शरीर की भाषा है। वह मां को देखकर समझते हैं अभी वे बोल नहीं सकते। मां क्या बोलती है उसे समझ सकते हैं। लेकिन मां के गेस्चर, उसकी मुद्राएं उनके ख्याल में आने लगती हैं। और इसलिए बच्चों को धोखा देना बहुत मुश्किल है जब तक कि बच्चे थोड़े बड़े न हो जाएं। छोटे बच्चों को धोखा नहीं दिया जा सकता। फिर धीरे-धीरे भाषा आरोपित हो जाती है और हम शरीर की भाषा भूल जाते हैं। और तब बड़ी मजेदार घटनाएं घटती हैं। अक्सर आपको ख्याल में नहीं, कभी किसी फिल्म में आपको ख्याल में आया हो तो आया हो। कभी फिल्म में ऐसा हो जाता है कि भाषा और भाव भंगिमा का सम्बंध टूट जाता है।

एक नाटक में ऐसा हुआ कि एक आदमी को गोली मारी जानी थी लेकिन गोली का घोड़ा अटक गया। मारनेवाले ने बहुत घोड़ा खींचा लेकिन जैसे उसने घोड़ा खींचा जिसको मरना था वह धड़म से गिर कर मर गया। जब वह मर चुका और चिल्ला चुका कि हाय मैं मरा, बाद में घोड़ा छूटा और गोली चली। सम्बन्ध टूट गया कृत्य में और माषा में। आपको पता नहीं कि आपके कृत्य और भाषा में सम्बन्ध नहीं होता। आपके होंठ मुस्कराते हैं, आपकी आँख कुछ और कहती हैं। आप हाथ से हाथ मिलाते हैं आपके हाथ के भीतर की ऊर्जा पीछे हटती है। हाथ आगे बढ़े हैं ऊर्जा पीछे हट रही है। आप हाथ मिलाना नहीं चाहते। जब आप हाथ मिलाना नहीं चाहते तो फिर भीतर की ऊर्जा पीछे हट जाती है और आप हाथ मिला रहे हैं लेकिन अगर दूसरा आदमी भाषा समझता हो शरीर की तो फौरन पहचान जाएगा कि हाथ मिलाया गया और ऊर्जा नहीं मिली। ऊर्जा भीतर खींच ली गई। लेकिन हम सभी भाषा भूल गए हैं। इसलिए पता नहीं चलता।

एक आदमी को गले मिलते हैं और पीछे हट रहे हैं। आपको खुद पता चल जाएगा, जरा ख़्याल करना अपने कृत्यों में कि जो आप कर रहे हैं अगर वह नहीं करना चाहते तो भीतर उससे विपरीत हो रहा है उसी वक्त हो रहा है। वह तो कोई शरीर की भाषा नहीं जानता। भूल गए हैं हम सब। शायद भूल जाना जरूरी है क्योंकि दुनिया में दोस्ती बनाना, प्रेम करना बहुत मुश्किल हो जाएगा। अगर हमारी शरीर की भाषा सीधी सीधी समझ में आ जाए तो बड़ा मुश्किल हो जाए। इसलिए हम सब पर्त बना लिए हैं। उन शब्दों की पर्त में हम जीते हैं। तो जब हम किसी आदमी से कहते हैं कि मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ तो वह बस वह इतना ही सुनता है न हमारे होंठ की तरफ देखता है कि जब ये शब्द कहे गए तो आखों ने कुछ कहा असली विषय वस्तु आखों से है शब्द से नहीं।

जो गहन है वह शरीर से कहा जा सकता है

जब ये शब्द कहे गए तो इस पूरे आदमी के रोएं रोएं में पुलक क्या थी आनन्द क्या था। यह कहने से प्राण इसके आनंदित हुए कि मजबूरी में इसने कह कर कर्तव्य निभाया। लेकिन शायद खतरनाक है। जैसी हमारी सभ्यता है समाज है धोखे का एक आडम्बर, इसलिए हम बच्चों को जल्दी ही ठोक पीट कर उनकी जो समझ है उसके ऊपर आरोपण करके उनकी वास्तविक समझ को भुला देते हैं। गुरू के पास रहकर फिर शब्दों की भाषा बोलनी पड़ती है फिर शरीर की भाषा सीखनी पड़ती है क्योंकि **जो गहन है वह शरीर से कहा जा सकता है। वह जो गहन है। वह** भाव भंगिमा से कहा जा सकता है। इसलिए भारत में पूरे के पूरे शास्त्र मुद्राओं के हैं गेस्चर्स का शास्त्र निर्मित हुआ।

अब पश्चिम में उसकी पुनः खोज हो रही है। जिसको वे शरीर की भाषा कहते हैं उसे हमने मुद्राओं में काफी गहराई तक खोजा है। आपने बुद्ध की मूर्तियां देखी होंगी विभिन्न मुद्राओं में। अगर आप किसी एक खास मुद्रा में बैठ जाएं तो आप हैरान होंगे कि आपके भीतर भाव परिवर्तन हो जाता है। आपकी मुद्रा भीतर भाव परवर्तन ले जाती है। **आपके भाव परिवर्तित हों तो आपकी मुद्रा परिवर्तित हो जाती है।** जैसे बुद्ध पद्मासन में बैठते हैं हाथ पर हाथ रखकर या महावीर बैठते हैं पद्मासन में सिर्फ वैसे ही आप बैठ जाएं तो आप तत्काल पाएंगे कि जो आपके मन की धारा चल रही थी उसमें विघ्न पड़ गया।

बुद्ध ने अनेक मुद्रायें अभय, करुणा इत्यादि बहुत सी मुद्राओं की बात की है अगर उस मुद्रा में आप खड़े हो जाए तो आप तत्काल भीतर पाएंगे कि भाव में अन्तर पड़ गया। अगर आप क्रोध की मुद्रा में खड़े हो जाएं तो भीतर क्रोध आना शुरू हो जाता है। शरीर और भीतर जोड़ है। गुरू के भीतर सारे धोखे मिट गए हैं उसके भीतर जो भाव होता है उसके शरीर तक बह जाता है। इसलिए महावीर कहते हैं कि शिष्य गुरू के इंगितों को ठीक ठीक समझता हो कि गुरू क्या कह रहा है इसे ठीक-ठीक समझता हो, शरीर से भी। रिंझाई अपने गुरू के पास था। २४ घंटे रुकने के बाद उसने कहा कि आप कुछ सिखाएंगे नहीं। गुरू ने कहा कि २४ घंटे मैंने और कुछ किया नहीं सिवाय सिखाने के। तो रिंझाई ने कहा कि एक शब्द आप बोले नहीं— या तो मैं बहरा हूं जो मुझे सुनाई नहीं पड़ा लेकिन अभी आप बोल रहे हैं मैं ठीक से सुन रहा हूं। आप एक शब्द नहीं बोले। गुरू ने कहा कि मेरा सब

कुछ होना बोलना ही है। तुम जब सुबह मेरे लिए चाय लेकर आये थे तो मैंने कैसे तुम्हारे हाथ से चाय ग्रहण की थी और मेरी आखों में कैसे अनुग्रह के भाव थे वह तुमने नहीं देखा। काश तुम वह देख लेते तो जो नहीं कहा जा सकता वह मैंने कह दिया। जब सुबह तुमने आकर मेरे चरणों में सिर रखा था और नमस्कार किया था तो मैंने किस भांति तुम्हारे सिर पर हाथ रख दिया था, काश तुम वह समझ लेते तो बहुत कुछ समझ में आ गया होता।

शिष्य होना हो तो अज्ञानी होना शर्त है

शास्त्र नहीं कह सकते जो, एक इशारा कह सकता है। महावीर कहते हैं कि जो गुरू के इंगितों को समझता हो, अगर कार्य विशेष में गुरू की शारीरिक अथवा मौखिक मुद्राओं को ठीक-ठीक समझ लेता हो वह मनुष्य विनय संपन्न कहलाता है। तो हमारी तो बड़ी कठिनाई हो जाएगी। हमें तो महावीर चिल्ला चिल्ला कर डंका बजा-बजा कर कहें कि ऐसा करो तो भी समझ में नहीं आता। समझ में भी आता है तो हमारी समझ में वही आता है जो हमें समझना चाहते हैं। वह क्या कहते हैं, लेना-देना नहीं। हम अपने पर इस बुरी तरह आरूढ़ हैं। **हम अपने आप को इस तरह पकड़े हुए हैं कि जो हम समझते हैं वह हमारी व्याख्या होती है। इन्टरप्रिटेशन होता है।** महावीर क्या कहते हैं वह हम नहीं समझते, हम क्या समझना चाहते हैं हम क्या समझ सकते हैं, हमारी समझ हम उनके ऊपर आरोपित करके जो व्याख्या कर लेते हैं फिर हम उसके अनुसार चलते हैं। फिर हम सोचते हैं कि महावीर के अनुसार चल रहे हैं। हम अपने ही अनुसार चलते रहते हैं।

कभी आपने ख्याल किया मैं यहां बोल रहा हूं। मैं एक ही बात बोल रहा हूं। लेकिन यहां जितने लोग हैं उतनी बातें समझी जा रही हैं। यहां हर आदमी अपने भीतर इंतजाम कर रहा है समझ रहा है। सोच रहा है। अपनी बुद्धि को जोड़ रहा है अर्थ निकाल रहा है। अभी मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हम इतने चालाक हैं कि जो हमारे मतलब का होता है हम उसे जल्दी से समझ लेते हैं। जो हमारे मतलब का नहीं होता हम उसे बाई पास कर जाते हैं। उसपर हम ध्यान ही नहीं देते। जिससे हमारा लाभ होता हो उसे हम तत्काल पकड़ लेते हैं। जिसमें हमें जरा भी हानि दिखाई पड़ती हो उसे हम सुनते ही नहीं। हम उसे गुजार जाते हैं। ऐसा नहीं कि हम सुन कर उसे गुजार जाते हैं हम सुनते ही नहीं। हम उसपर ध्यान ही नहीं देते। हम अपने ध्यान को एक छलांग लगा देते हैं। हम आगे बढ़ जाते हैं। जब मैं आपसे बोल रहा हूं उसमें से पांच प्रतिशत भी सुन लें तो बहुत कठिन है। उसमें से पांच

प्रतिशत भी आप वैसा सुन लें जैसा बोला गया, बहुत कठिन है। आप अपने को मिलाते चले जाते हैं। इसलिए अंत में जो आप अर्थ निकालते हैं ध्यान रखें वह आपका ही है उसका मुझसे कुछ लेना देना नहीं।

महावीर कहते हैं कि जो शारीरिक, मौखिक मुद्राओं को ठीक ठीक समझ लेता हो वह मनुष्य विनय संपन्न कहलाता है। वह आदमी विनीत है। वह आदमी 'हम्बल' है। क्या मतलब हुआ विनीत का। विनीत का मतलब हुआ कि आप बीच-बीच में न आते हों। आप अपने को घुमा कर बीच में न ले आते हों। जो कहा जा रहा हो उसको ही समझ लेते हों अपने को बीच में न लाएं तो आप शिष्य हैं। विद्यार्थी को मनाही नहीं है वह अपने को बीच में लाए मजे से लाए। शिष्य को मनाही है। क्योंकि विद्यार्थी केवल सूचनाएं ग्रहण कर रहा है अपने लाभ के लिए। जो उसके लाभ का हो ग्रहण कर ले जो उसके लाभ का न हो छोड़ दे। इसलिए शिक्षक और विद्यार्थी के बीच का सम्बन्ध लाभ और हानि का है। जो मेरे काम का नहीं वह छोड़ दूंगा, जो मेरे काम का है वह मैं चुन लूंगा।

यह उचित ही है लेकिन शिष्य और गुरू के बीच सम्बन्ध लाभ और हानि का नहीं है। यह गुरू को पीने आया है इसमें अगर वह अपने को बीच-बीच डालता है तो जो भी यह उनसे लेगा वह इसका अपना होगा गुरू से कोई संम्बन्ध न होगा। इसलिए कई बार ऐसा होता है कि गुरू के पास लोग वर्षों रहते हैं और फिर भी गुरू को छुए बिना लौट जाते हैं। वर्षों रहा जा सकता है। वर्ष बड़े छोटे हैं जन्मों रहा जा सकता है। वे अपने को ही सुनते रहते हैं। विनय का तो यह बहुत गहरा अर्थ हुआ। **विनय का अर्थ हुआ अपने को सब भांति छोड़ देना। असल में विद्यार्थी होना हो तो अज्ञान शर्त नहीं है, शिष्य होना हो तो अज्ञानी होना शर्त है अपने सारे ज्ञान को तिलांजलि दे देना। खाली स्लेट की तरह खाली कागज की तरह खड़े हो जाना।** ताकि गुरू जो लिखे वही दिखाई पड़े। आपका लिखा हुआ पहले से तैयार हो कागज पर और फिर गुरू और लिख दे तो सब उपद्रव ही हो जाएगा। और जो अर्थ निकलेंगे वे अनर्थ सिद्ध होंगे। यह अनर्थ घट रहा है। यह हर आदमी पर घट रहा है। हर आदमी एक भीड़ है उनमें न जाने कितने विचार हैं और जब एक विचार भीड़ में घुसता है तो वह फिर तत्काल उस विचार को बोलने में लग जाता है, अपने अनुकूल करने में लग जाता है। जब तक वह विचार अनुकूल न हो जाए तब तक आपका पुराना मन बेचैनी अनुभव करता है। जब वह अनुकूल हो जाए तब आप निश्चिन्त हो जाते हैं।

उदास लोगों से सत्यों का जन्म नहीं होता

गुरू के पास जब आप जाते हैं तो गुरू जो विचार देता है उसको आपके पूर्व विचारों के अनुकूल नहीं बनाना है बल्कि इस विचार के अनुकूल सारे पूर्व विचारों को बनाना है तब विनय है। चाहे सब टूटता हो चाहे सब जाता हो। आपके पास है भी क्या? हम बड़े मजेदार लोग हैं। जिसको बचाते रहते हैं कभी यह सोचते नहीं कि है भी क्या। मेरे पास लोग आते हैं और वे कहते हैं कि मेरा विचार तो ऐसा है। मैं उनसे पूछता हूं कि अगर ये विचार तुम्हें कहीं ले गए हों तो मजे से पकड़े रहो मेरे पास आओ ही मत। नहीं वह कहते हैं कि नहीं कहीं ले तो नहीं गये। तो फिर इस 'मेरे' विचार को कृपा करके छोड़ दें। जो विचार तुम्हें कहीं नहीं ले गया है उसी विचार को तुम लेकर मेरे पास आते हो। और मैं तुमसे जो कहता हूं उसी विचार से उसकी भी जांच करते हो। मेरा विचार भी तुम्हें कहीं नहीं ले जाएगा। तुम निर्णायक बने रहोगे। लोग सुनते ही नहीं।

मार्कट्वेन ने मजाक की है–बड़ा सम्पादक था बड़ा लेखक था और एक हंसोड़ आदमी था। **और कभी कभी हंसने वाले गहरी बातें कह जाते हैं। जो कि रोनेवाला लाख रोऐ तो नहीं कह पाता। उदास लोगों से सत्यों का जन्म नहीं होता उदास लोगों से बीमारियां पैदा होती हैं।** मार्कट्वेन ने कहा है कि जब कोई किताब मेरे पास आलोचना के लिए भेजता है क्रिटिसिज्म के लिए भेजता है तो मैं पहले किताब पढ़ता नहीं, पहले आलोचना लिखता हूँ। क्योंकि किताब पढ़ने से आदमी अगर प्रभावित हो जाए तो पक्षपात हो जाता है। पहले आलोचना लिख देता हूँ फिर मजे से किताब पढ़ता हूं। उसने सलाह दी है कि आलोचक को कभी भी आलोचना करने से पहले किताब नहीं पढ़नी चाहिए। क्योंकि उससे अगर आलोचक का मन प्रभावित हो जाए तो पक्षपात हो जाता है।

सुना है मैंने मुल्ला नसरुद्दीन बुढ़ापे में मजिस्ट्रेट हो गया– जे. पी.। पहला ही आदमी आया, कोई मिल गया होगा किसी स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर। उसके जे. पी. होने पर पहला आदमी कोई, पहला ही मुकदमा था। एक पक्ष बोल पाया था कि उसने जजमेन्ट लिखना शुरू किया। कोर्ट के क्लर्क ने कहा कि महानुभाव यह आप क्या कर रहे हैं? अभी आपने दूसरे पक्ष को सुना ही नहीं। नसरुद्दीन ने कहा कि अभी मेरा मन साफ है और अगर मैं दोनों को सुन लूं तो सब कन्फ्यूजन हो जाएगा। जब तक मन साफ है तब तक निर्णय लिख लेने दो। फिर पीछे दूसरे को भी सुन

लेंगे फिर कुछ गड़बड़ होनेवाली नहीं। हम सब ऐसे ही कन्फ्यूजन में हैं और हम किसी की नहीं सुनना चाहते कि कहीं कन्फ्यूजन न हो जाए। हम अपने को ही सुने चले जाते हैं। जब हम दूसरे को भी सुन रहे होते हैं तो हम पर्दे की ओट से सुनते हैं। छांटते रहते हैं कि क्या छोड़ देना, क्या बचा लेना फिर जो बचता है वह आपके विचार हैं लोग अपने विचार पकड़ कर चलते हों तो गुरू से उनका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वे लाख गुरुओं के पास बैठकर भी अपने आसपास ही परिक्रमा करते रहते हैं। वे अपने घर को कभी नहीं छोड़ पाते। उसके आस-पास ही घूमते रहते हैं। इस लिए महावीर ने कहा है कि उसे विनय सम्पन्न कहता हूँ जो गुरू की मुद्राओं तक को वैसा ही समझ लेता हो जैसी वे हों, फिर १५ लक्षण महावीर ने गिनाएं।

सुविनीत के लक्षण

निम्नलिखित १५ लक्षणों से मनुष्य सुविनीत कहलाता है। इनमें कुछ महत्त्व-पूर्ण हैं। उद्धत न हों, एग्रेसिव न हों। आक्रमक न हों। क्यों कि जो आक्रमक है चित्त से वह ग्रहण न कर पाएगा। रिसेप्टिव हों, ग्राहक हों उद्धत न हों। अलग-अलग स्थितियों में जब आप उद्धृत होते हैं तब आप दूसरे पर आक्रमण कर रहे हैं।

लोग आते हैं उनके प्रश्न ऐसे होते हैं कि जैसे वे प्रश्न न लेकर एक छुरा लेकर आए हैं। प्रश्न पूछने के लिए नहीं होते हैं हमला करने के लिए होते हैं प्रश्न कुछ समझने के लिए नहीं होते, कुछ समझाने के लिए होते हैं। तो अगर शिष्य गुरू को समझाने आया हो तो कुछ भी होनेवाला नहीं है। यहाँ तो नदी नाव के ऊपर हो गई। अगर शिष्य गुरू को समझाने आया हो। हालांकि ऐसे शिष्य खोजना मुश्किल है जो गुरू को समझाने न आते हों। तरकीब से समझाने आते हैं और फिर भी मन में यह माने चले जाते हैं कि हम शिष्य हैं।

महावीर कहते हैं कि उद्धत न हों, विनम्र हो, आक्रमक न हो, ग्राहक हो कुछ लेने आया हो। चपल न हो, स्थिर हो। क्योंकि जितनी चपलता हो उतना ही ग्रहण करना मुश्किल हो जाता है। **चपल आदमी का चित्त वैसा होता है जैसे फूटी बाल्टी** हो। ग्राहक भी हो तो किसी काम की नहीं। पानी भरा हुआ दिखाई पड़ेगा जब तक पानी में डूबी रहे निकालो कि पानी सब गिर जाता है। चपल चित्त छेदवाला चित्त है जब तक वह गुरू के पास भी बैठा हुआ है तब तक वह हजार जगह हो आयेगा। बैठा है वहां, न मालूम कहाँ-कहाँ का चक्कर काट आया। जितनी देर वह कहीं और रहा उतनी देर गुरू ने जो कहा वह सुनाई न पड़ेगा।

स्थिर हो मायाबी न हो, सरल हो किसी तरह का धोखा देने की इच्छा में न हो। हम सब होते हैं गुरू के पास जब कोई आता है तो वह बताता है कि मैं बिलकुल ईमानदार हूं, सच्चा हूं। नहीं वह जो हो वही उसे बता देना चाहिए क्योंकि गुरू को धोखा देने से वह अपने को ही धोखा देगा। यह तो ऐसा हुआ जैसे कोई डाक्टर के पास जाए हो कैंसर और बताए कि कुछ नहीं जरा फोड़ा फुंन्सी हैं। तो फोड़ा फुन्सी का इलाज हो जाएगा। डाक्टर को हम धोखा नहीं देते हैं बीमारी बता देते हैं वही जो है तो ही डाक्टर किसी उपयोग का होगा। गुरू तो चिकित्सक है उसके पास जाकर सब खोल देना, तो ही निदान हो सकता है। लेकिन हम उसके साथ भी वही धोखा चलाए जाते हैं जो हम दुनिया भर में चला रहे हैं। उसके साथ भी हम वह दिखाए चले जाते हैं जो हम नहीं हैं तो बदलाहट कभी भी संभव न होगी। गुरू के पास तो पूर्ण नग्न जो हम हैं जैसे हम हैं सब उधाड़ कर रख देना। उससे कुछ भी छिपाना नहीं। इस अछिपाव का अर्थ ही सरलता है।

कुतुहली न हों गंभीर हों। जिज्ञासा गम्भीर बात है, कुतूहल नहीं है क्यूरिआसिटी नहीं है, इन्क्वायरी और क्यूरिआसिटी में फर्क है। बच्चे कुतूहली होते हैं। कुतूहली का आप मतलब समझते हैं, कुछ करना नहीं है पूछ कर, पूछने के लिए पूछना। आ गया ख्याल कि ऐसा क्यों है पूछ लिया। इससे क्या उत्तर मिलेगा उससे जीवन में कोई अन्तर करना है यह सवाल नहीं। इसलिए बच्चों के बड़े मजेदार सवाल होते हैं। एक सवाल उन्होंने पूछा, उसका आप उत्तर नहीं दे पाए कि दूसरा सवाल पूछ लिया। आप जब उत्तर दे रहे हैं तब उनको कोई रस नहीं था। उनका मतलब पूछने से था। मेरे पास लोग आते हैं। मैं बहुत चकित हुआ। वे एक सवाल पूछते हैं कि बड़ा महत्वपूर्ण सवाल आपसे पूछना है। वह पूछ लेते हैं। उन्होंने सवाल पूछ लिया मैं उनसे पूछता हूँ कि पत्नी आपकी ठीक, बच्चे आपके ठीक, कहते हैं बिलकुल ठीक, वे सवाल ही भूल गए इतने में। वे घंटे भर जमाने भर की बातें करके बड़े खुश घर वापस लौट जाते हैं, मैं सोचता हूं सवाल का क्या हुआ ? जो बड़ा महत्त्वपूर्ण था, जो मेरे इतने से पूछने से कि बच्चे कैसे हैं समाप्त हो गया। फिर उन्होंने पूछा ही नहीं।

कुतूहल था, आ गए थे पूछने कि ईश्वर है या नहीं। मगर इससे कोई मतलब न था, इससे कोई सम्बन्ध न था। तो पूछना भी एक रस दिखलाना था कि ईश्वर में उत्सुक हूं। यह भी अहंकार को तृप्ति देता है कि मैं कोई साधारण आदमी नहीं हूँ ईश्वर की खोज कर रहा हूँ। मार्पा अपने गुरू के पास गया, नारोपा के पास। तो

तिब्बत में रिवाज था कि पहले गुरू की सात परिक्रमाएं की जाएं, फिर सात बार उसके चरण छुए जाएं, सिर रखा जाए, शाष्टांग लेटकर प्रणाम किया जाए, फिर प्रश्न निवेदन किऐ जाएं। लेकिन मार्पा सीधा पहुंचा और जाकर गुरू की गर्दन पकड़ ली और कहा कि यह सवाल, नारोपा ने कहा कि मार्पा कुछ तो शिष्टता बरत,। यह भी कोई ढंग है। परिक्रमा कर, दण्डवत कर, विधि से बैठ, प्रतीक्षा कर, जब मैं तुझसे कहूं कि पूछ तब पूछ। लेकिन मार्पा ने कहा कि जीवन है अल्प और कोई भरोसा नहीं कि सात परिक्रमाएं पूरी हो पाएं और अगर मैं बीच में मर जाऊं तो नारोपा जिम्मेदारी तुम्हारी कि मेरी? तो नारोपा ने कहा कि छोड़ परिक्रमा, पूछ, परिक्रमा पीछे कर लेना। नारोपा ने कहा है कि मार्पा जैसा शिष्य फिर नहीं आया। यह कोई कुतूहल न था यह तो जीवन का सवाल था। यह कोई कुतूहल नहीं था। यह ऐसे पूछने नहीं चला आया था। जिन्दगी दाँव पर थी।

जब जिन्दगी दाँव पर होती है तब जिज्ञासा होती है और जब खुजलाहट होती है दिमाग की तब कुतूहल होता है। किसी का तिरस्कार न करें। इसलिए नहीं कि तिरस्कार योग्य लोग नहीं हैं जगत में, काफी हैं जरूरत से ज्यादा हैं बल्कि इसलिए कि तिरस्कार करनेवाला अपनी ही आत्महत्या में लग जाएगा। जब आप किसी का तिरस्कार करने में लग जाते हैं तो वह तिरस्कार योग्य था या नहीं लेकिन आप नीचे गिरते हैं। जब आप तिरस्कार करते हैं किसी का तो आपकी ऊंर्जा ऊंचाइयाँ छोड़ देती है नीचाइयों पर उतर आती है। यह बहुत मजे की बात है कि तिरस्कार जब भी आप किसी का करते हैं तो आपको उसी के तल पर भीतर उतर आना पड़ता है। **इसलिए बुद्धिमानों ने कहा कि मित्र भी किसी को चुन लेना लेकिन शत्रु सोच समझ कर चुनना क्योंकि आदमी को शत्रु के तल पर उतर आना पड़ता है।** इसलिए अगर दो लोग जिन्दगी भर लड़ते रहें तो आप आखिर में पाएंगे कि उनके गुण एक जैसे हो जाते हैं। क्योंकि जिससे लड़ना पड़ता है उसके तल पर होना पड़ता है।

इसलिए महावीर कहेंगे कि अगर प्रशंसा बन पड़े तो करना क्योंकि प्रशंसा में ऊपर जाना पड़ता है। निन्दा में नीचे आना पड़ता है यह सवाल नहीं है कि दूसरा आदमी निन्दा योग्य था या प्रशंसा योग्य था सवाल यह नहीं है कि **जब आप प्रशंसा करते हैं तो आप ऊपर उठते हैं और जब आप निन्दा करते हैं तो आप नीचे** गिरते हैं। वह आदमी कैसा था यह तो निर्णय करना भी आसान नहीं है। इसलिए महावीर कहते हैं कि किसी का तिरस्कार न करता हो, क्रोध को अधिक समय तक न टिकने देता हो, यह नहीं कहते कि अक्रोधी हो क्योंकि शिष्य से यह जरा ज्यादा अपेक्षा

हो जाएगी । इतना ही कहते हैं कि क्रोध को ज्यादा न टिकने देता हो । क्रोध क्षण भर को आता हो तब जाग जाता हो और क्रोध को विसर्जित कर देता हो ।

धीरे-धीरे क्रोध नहीं आयेगा लेकिन वह दूर की बात है । यात्रा के पहले चरण में क्रोध को अधिक न टिकने देना ही काफी है । आपको पता है आप क्रोध कितना टिकने देते हैं । कुछ लोग हैं कि उनके बाप दादे लड़े थे, अभी तक क्रोध टिका है, अभी तक वे लड़ रहे हैं क्योंकि वह दुश्मनी बाप दादों से चली आ रही है । आज आपको क्रोध हो जाए आप जिन्दगी भर उसको टिकने देते हैं । वह बैठा रहता है कब मौका मिल जाए आप बदला ले, लें । क्रोध अगर एक क्षण में उठनेवाली घटना है और खो जानेवाली तो पानी का एक बुलबुला है तो चिन्ता की कोई जरूरत नहीं है एक लिहाज से अच्छा है, **इसलिए वे लोग अच्छे हैं जो क्रोध कर लेते हैं और भूल जाते हैं, बजाए उन लोगों के जो क्रोध को दबाए चले जाते हैं । वे लोग खतरनाक हैं । वे आज नहीं कल कोई उपद्रव करेंगे । इनकी केटली का ढक्कन भी बंद है और नीचे आग भी जल रही है । विस्फोट होगा, यह किसी की जान लेंगे** । उससे कम में यह माननेवाले नहीं है । केटली भी है जिसका ढक्कन खुला है, भाप ज्यादा हो जाती है ढ़क्कन थोड़ा उछल जाता है, भाप बाहर निकल जाती है केटली अपनी जगह हो जाती है । हर आदमी **एक उबलती हुई केटली है जिन्दगी की आग नीचे जलती है । ढक्कन थोड़ा ढीला रखना अच्छा है । बिलकुल चुस्त मत कर लेना । जैसे संयमी कर लेते हैं । फिर वे जान लेने वाले हो जाते हैं, खुद तो मरेंगे दो चार को आसपास मार डालेंगे ।**

मित्रों के प्रति सद्भाव कठिन

महावीर कहते हैं कि जिसका ढक्कन थोड़ा ढीला हो, भाप ज्यादा होती हो छलांग लगाकर बाहर निकल जाती है ढक्कन वापस अपनी जगह होता है । क्रोध बिलकुल न हो यह किसी से भी अपेक्षा नहीं की जा सकती है । यह तो आखिरी बात है लेकिन क्षण भर टिकता हो इतना ही काफी है । असल में क्रोध इतनी बीमारी नहीं है जितना टिका हुआ क्रोध बीमारी है क्योंकि टिका हुआ क्रोध भीतर एक स्थायी घुआँ हो जाता है । कुछ लोग ऐसे हैं जो लोग क्रोधित नहीं होते उनको होने की जरूरत नहीं है वे क्रोधित रहते ही हैं । उनको होने वगैरह की आवश्यकता नहीं है वे हमेशा तैयार ही हैं वे तलाश कर रहे हैं कि कहीं खूंटी मिल जाए और हम अपने को टांग दें और खूंटी न मिले तो वह खिड़की दरवाजे पर कहीं न

कहीं टांगेंगे । निर्मित कर लेंगे खूंटी । क्रोध निकल जाता हो क्षण भर आता हो, तो बेहतर है । वैसा आदमी भीतर क्रोध की पर्त निर्मित नहीं करता । यह भी महत्त्वपूर्ण बात है, महावीर के मुंह से यह बात कि क्रोध को अधिक समय तक न टिकने देता हो बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है । मित्रों के प्रति सद्भाव रखता हो यह बड़ी हैरानी की बात है । हम कहेंगे कि मित्रों के प्रति सद्भाव होता ही है यह बिलकुल झूठ है । मित्रों के प्रति सद्भाव रखना बड़ा कठिन है ।

दुसरों के दोष बड़े कर लेने में अपने दोष छोटा कर लेने की तरकीब है । खुद के दोष छोटे करना बुरा नहीं है लेकिन दूसरे के बड़े करके छोटे करने का ख्याल करना पागलपन है।

मार्कट्वेन ने कहा है कि हे परमात्मा! शत्रुओं से मैं निपट लूंगा मित्रों से तुम मुझे बचाना । **मित्र बड़ी अद्भुत् चीज है** । जिसे हम जानते हैं जिसका सब कुछ हमें पता है उसके प्रति कैसे सद्भाव रखें । अज्ञान में सद्भाव आसान है ज्ञान में मुश्किल हो जाता है । इसलिए जितने हमारे कोई निकट होता है वह उतना ही दूर भी हो जाता है । और हम मित्रों के सम्बन्ध में भी इधर उधर की बातें करते रहते हैं । वे तो बातें बतातीं हैं कि सद्भाव कितना है । पीठ पीछे हम क्या कहते रहते हैं उससे पता चलता है कि सद्भाव कितना है । महावीर कहते हैं कि मित्रों के प्रति सद्भाव रखता हो । पूरा सद्भाव रखता हो ।

शास्त्र से ज्ञान पाकर गर्व न करता हो क्योंकि शास्त्र के ज्ञान का कोई मूल्य ही नहीं है । इसलिए गर्व व्यर्थ है और शास्त्रों के ज्ञान से गर्व पैदा होता है इसलिए विशेष रूप से यह सूचन किया है क्योंकि शास्त्रों से जब ज्ञान मिल जाता है तो लगता है कि मैंने जान लिया । बिना जाने अभी जानना बहुत दूर है अभी किताब में पढ़ा कि पानी प्यास बुझाता है अभी पानी नहीं मिला । अभी किताब में पढ़ा कि मिठाई बड़ी मीठी होती है अभी स्वाद नहीं मिला । अभी किताब में पढ़ा कि सूरज उगता है और प्रकाश हो प्रकाश हो जाता है । जिंदगी अभी अंधेरे में है तो किताब को पढ़कर जो गर्व न करता हो लेकिन किताब को पढ़कर गर्व आ ही जाता है । लगता है कि जान गए । इसलिए शास्त्री आदमी हो और अहंकारी न हो बड़ा मुश्किल है ।

शास्त्र अहंकार के लिए बोझिल है इसलिए पंडित की चाल देखें । पंडित की आँख देखें, उनकी भाव भंगिमा जरा पहचानें तो वे जमीन पर नहीं चलते । वे नहीं चल सकते । जमीन और उनके बीच बड़ा फासला होता है । इसलिए दो पंडितों को पास बैठा दें तो जो घटना दो कुत्तों के बीच घट जाती है वही

घटती है। क्या हो जाता है? एकदम कुत्तों के गले में खराश आ जाती है। एकदम भोंकना, एकदम भोंकना शुरू कर देते हैं। जब तक एक हार न जाए तब तक दूसरे को शांति नहीं। मैंने तो सुना है कि पंडित मरकर कुत्ते बिल्लयां हो जाते है। वह पुरानी आदत बस भोंकते चले जाते हैं। क्या हो जाता होगा ? शास्त्र इतना भोंकता क्यों है ? शास्त्र नहीं भोंकता, शास्त्र से अहंकार पोसित हो जाता है। लगता है कि मैं जानता हूं और जब ऐसा लगता है कि मैं जानता हूं तो फिर और कोई जान सकता है यह मानने का मन नहीं होता। फिर कोई और भी जानता है और मुझसे बहुत भिन्न जानता है तो शत्रुता निर्मित हो जाती है। फिर सिद्ध करना जरूरी हो जाता है कि मैं ठीक हूं।

पंडित सत्य की खोज में नहीं होता, मैं ठीक हूं इसकी खोज में होता है। महावीर कहते हैं कि शास्त्रों को पाकर गर्व न करता हो। किसी के दोषों का भंडाफोड़ न करता हो। कोई प्रयोजन नहीं है किसी के दोष पता भी चल जाएं तो उसकी चर्चा का क्या अर्थ है ? आपकी चर्चा से उसके दोष न मिट जायेंगे हो सकता है बढ़ जाएं। अगर आप सच ही चाहते हैं कि उसके दोष मिट जाएं तो उन दोषों की सारे जगत में चर्चा करते रहने से कोई मतलब नहीं। लेकिन एक मामले में हम बड़े सृजनात्मक लोग हैं किसी का जरा सा दोष दिख जाए तो हमारे पास मैगनीफाइंग ग्लास है हम उसको फिर इतना बड़ा करके देखते हैं कि सारा ब्रह्मांड का विस्तार छोटा मालूम पड़ने लगता है। सुना है मैंने कि मुल्ला ने एक दिन अपनी पत्नी को फोन किया, फोन करना पड़ा क्योंकि ऐसी घटना हाथ में लग गई थी। बताया कि पड़ोसी अहमद—अहमद का मित्र, रहमान की पत्नी को लेकर भाग गया। दोनों के बच्चे सड़कों पर भीख मांग रहे हैं और बहुत सी बातें बताई। पत्नी भी रस से भर गई। क्योंकि पत्नियों को विएतनाम में क्या हो रहा है उससे मतलब नहीं, पड़ोसी की पत्नी कहाँ भाग गई यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। पत्नी ने कहा कि जरा भुल्ला विस्तार से बताओ मुल्ला ने कहा कि विस्तार में मत ले जाओ मुझे जितना मैंने सुना है उसका तीन गुना तो मैं बता ही चुका हूं। अब और विस्तार में मुझे मत ले जाओ।

जब किसी का दोष हमें दिखाई पड़ जाए तो हम तत्काल उसे बड़ा कर लेते हैं। भीतर एक रस है। जब दूसरे का दोष बहुत बड़ा हो जाता है तो अपने दोष बहुत छोटे दिखाई पड़ते हैं। और अपने दोष जब छोटे दिखाई पड़ते हैं तो बड़ी राहत मिलती है कि हम क्या हैं हमारे पाप भी क्या? दुनिया में यह घट ही रहा है चारों तरफ। तो हम पुण्यात्मा मालूम पड़ते हैं इसलिए **दूसरे का दोष बड़े**

कर लेने में अपने दोष छोटा कर लेने की तरकीब है। खुद के दोष छोटे करना बुरा नहीं है लेकिन दूसरे के बड़े करके छोटे करने का ख्याल करना पागलपान है। खुद के दोष को छोटे करना अलग बात है। लेकिन दो तरकीबें हैं या तो खुद के पाप छोटे करें तब छोटे होते हैं या फिर पड़ोसियों के बड़े कर लें तब भी छोटे दिखाई पड़ने लगते हैं। यह आसान है पड़ोसियों के बड़े करना इसमें कुछ भी नहीं करना पड़ता। महावीर कहते हैं कि भंडाफोड़ न करता हो मित्रों पर क्रोधित न होता हो।

शत्रुओं पर हमारा उतना क्रोध नहीं होता जितना मित्रों पर होता है। इसलिए मित्र की सफलता कोई भी बर्दाश्त नहीं कर पाता। यह बड़ा मजा है, आदमी का मन, मित्र जब तकलीफ में होता है तो हमें सहानुभूति बतलाने में भी मजा आता है। लेकिन मित्र अगर तकलीफ में न हो सफल होता चला जाए तब हमें बड़ी पीड़ा होती है। जो आदमी अपने मित्र की सफलता में सुख न पाता हो, जानना कि मित्रता है ही नहीं। लेकिन हमें बड़ा मजा आता है अगर कोई दुखी है तो हम संवेदना प्रकट करने पहुंच जाते हैं। संवेदना में बड़ा मजा आता है। कोई दुखी है हम दुखी नहीं हैं। कभी आपने देखा है जब आप संवेदना प्रकट करने जाते हैं तो भीतर एक हल्का सा रस मिलता है। किसी के मकान में आग लग जाए तो आपकी आँख से आंसू गिरने लग जाते हैं। किसी का मकान आकाश छूने लगे तब आपके पैरों में नाच नहीं आता। तो इसमें खतरा है क्योंकि सच में ही किसी के मकान में आग लगने से हृदय रोता है तो उसका मकान किसी दिन गगनचुंबी हो जाए तो उस दिन पैर नाचने चाहिए। लेकिन गगनचुंबी मकान देखकर पैर नाचते नहीं। आग लग जाए तो आंखें रोती हैं, निश्चित ही उस रोने के पीछे भी रस है इसलिए लोग ट्रेजडी दुखान्त नाटक और फिल्मों को देखकर इतना मजा पाते हैं नहीं तो दुख दिखाने में इतना मजा क्या है। ? दुख को देखकर एक राहत मिलती है कि हम इतने दुखी नहीं। अपना मकान अभी भी कायम है कोई आग नहीं लगी। दूसरे को सुखी देखकर हम सुखी होते हैं तब समझना मित्रता है। मित्रता सूक्ष्म बात है महावीर कहते हैं कि मित्रों पर क्रोधित न होता हो। यह भी ध्यान रखना कि शत्रुओं पर क्रोधित होने का कोई अर्थ नहीं होता, आप क्रोधित हैं। मित्रों पर क्रोधित होने का अर्थ होता है क्योंकि रोज रोज होना पड़ता है मित्रों पर क्रोधित न होता हो, अप्रिय मित्र की भी पीठ पीछे भलाई ही गाता हो क्योंकि आखिर यह तो झूठ मालूम होगा ना। आप कहेंगे कि बिलकुल झूठ को शिक्षा महावीर दे रहे हैं। अप्रिय मित्र की भी पीठ पीछे भलाई गाता हो। पीछे भले की ही बात करता हो, नहीं झूठ के लिए नहीं कह रहे हैं।

हम जिसकी चर्चा करते हैं वैसे हो जाते हैं

कोई आदमी इतना बुरा नहीं कि बिलकुल बुरा हो, कोई आदमी इतना भला नहीं है कि बिलकुल भला है इसलिए चुनाव है। जब आप किसी आदमी की बुराई की चर्चा करते हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि उस आदमी में भलाई है ही नहीं। आपने बुराई चुन ली। जब आप किसी आदमी की भलाई की चर्चा करते हैं तब भी यह मतलब नहीं होता है कि उसमें बुराई है ही नहीं। आपने बुराई चुन ली। महावीर कहते हैं कि ऐसा बुरा आदमी खोजना कठिन है जिसमें कोई भलाई न हो। क्योंकि बुराइयों को टिकने के लिए भलाइयों की जरूरत है। तो तुम चुनाव करना भलाई की चर्चा का। क्यों आखिर? **क्योंकि भलाई की जितनी चर्चा की जाए उतनी खुद के भीतर भलाई की जड़ें गहरी बैठने लगती हैं। बुराई की जितनी चर्चा की जाए, बुराई की जड़ें गहरी बैठने लगती हैं। हम जिसकी चर्चा करते हैं अंततः हम वही हो जाते हैं। लेकिन हम सब बुराई की चर्चा कर रहे हैं।**

अगर हम अखबार उठाकर देखें तो पता ही नहीं चलता कि दुनिया में कहीं कोई भलाई भी हो रही है। सब तरफ बुराई हो रही है। सब तरफ चोरी हो रही है, सब तरफ हिन्सा हो रही है। अखबार देखकर लगता है कि शायद अपने से छोटा पापी जगत में कोई भी नहीं है। यह सब क्या हो रहा है चारों तरफ, और चेहरे पर एक रौनक आ जाती है। यह सारी बुराई आप संचित कर रहे हैं अपने भीतर। यह सारी बुराई आपके भीतर प्रवेश कर रही हैं। अगर हमें एक अच्छी दुनिया बनानी हो अगर अच्छे आदमी को जन्म देना हो तो हमें मलाई संचित करनी चाहिए। भलाई की फिक्र करनी चाहिए। और जब हम बुराई को चर्चा करते हैं तो हमें पता नहीं कि वह बुराई का संस्कार हम पर निर्मित होता चला जा रहा है यह आदमी चोर है, वह आदमी चोर है सारी दुनिया चोर है तो जिस दिन आप चोरी करने जाते हैं तो भीतर आपको नहीं लगता है कि आप कुछ नया करने जा रहे हैं। सभी यह कर रहे हैं। चोरी को जड़ मजबूत होती है। जब आप कहते हैं फलां आदमी अच्छा है, जब आप चुनते हैं अच्छा तो आपके भीतर अच्छे की मूलवत्ता निर्मित होती है। तो जब बुराई करने जाते हैं तब आपको लगता है कि आप क्या कर रहे हैं। दुनिया में ऐसा कोई भी नहीं कर रहा है।

तो महावीर कहते हैं कि अप्रिय मित्र की भी पीठ पीछे भलाई ही गाता

हो। हम तो प्रिय मित्र की भी पीठ पीछे बुराई ही गाते हैं। किसी प्रकार का झगड़ा फसाद न करता हो, झगड़ा फसाद की एक व्यवस्था होती है कुछ लोग फसादी होते हैं। फसादी का मतलब यह है कि आप ऐसा कोई कारण ही नहीं दे सकते हैं जिसमें से वे झगड़ा न निकाल लें। वे झगड़ा निकाल ही लेंगे। झगड़ा निकालना भी एक कला है। एक कुशलता है कुछ लोग उसमें इतने कुशल होते हैं कि वे किसी भी चीज में से झगड़ा निकाल लेते हैं। मैं अपने एक मित्र को जानता हूँ उनके पिता बड़े अदभुत थे। ऐसे कुशल थे जिसका कोई हिसाब नहीं। अगर उनका बेटा नहा धोकर साफ सुथरे कपड़े पहन कर दूकान पर आ जाए तो वे ग्राहकों को इकट्ठा कर लेते हैं कि देखो बाप मर गया कमा कमा कर यह मौज उड़ाता है। हमने कभी साबुन न देखी आप देवी देवताओं को लजा रहे हैं। मैंने उनके बेटे को कहा कि तू एक दिन बिना नहाए पहुंच जा, गंदे कपड़े पहनकर पहुंच जा क्यों उनको बार बार् कष्ट देता है। वह पहुंच गया। पिता ने फिर भीड़ इकट्ठी कर ली और कहा कि जब मैं मर जाऊं तब-इस हालत में रहना। अभी मैं जिन्दा हूँ, अभी नहाओ, धोओ ढंग से रहो। फिर बहुत प्रयोग किए सब तरह के प्रयोग किए लेकिन उनके पिता की कुशलता अपरिसीम थी। कुछ भी करो उसमें से फसाद निकाला जा सकता है।

महावीर कहते हैं झगड़ा फसाद न करता हो नहीं तो सुख न पाएगा। जीवन को न बदल पाएगा, ऊर्जा नष्ट हो जाती है इन मूढ़ताओं में। अपनी ही शक्ति नष्ट होती है किसी और की नहीं। लेकिन व्यर्थ खो जाती है। बुद्धिमान हो बुद्धिमानी का अर्थ ही है कि झगड़े फसाद न करता हो जीवन ऊर्जा का विध्वंसक उपयोग न करता हो सृजनात्मक क्रिएटिव उपयोग करता हो, अभिजात्य कीमती शब्द है। अरिस्ट्रोक्रेटिक हो। बड़ा अजीब लगेगा। समाजवाद की दुनिया है वह अरिस्टोक्रेटिक आभिजात्य लेकिन महावीर के अर्थ में कुलीनता अभिजात्य का अर्थ है। क्षुद्रता पर ध्यान न देता हो, सालीन हो। क्षुद्रता को नजर से बाहर कर देता हो, श्रेष्ठता पर ही ध्यान रखता हो, व्यर्थ को चुनता न हो। और दूसरे में श्रेष्ठ होना चाहिए इसकी तलाश करता हो।

अकुलीन का अर्थ होता है कि जो पहले से मानकर बैठा है कि लोग बुरे हैं। कुलीन का अर्थ है कि जो पहले से मान कर बैठा है कि लोग भले हैं। लोग भले हैं मूलतः कभी–कभी बुरे हो जाते हैं। यह बात और है। अकुलीन का अर्थ है कि लोग बुरे तो हैं ही कभी-कभी भले हो जाते हैं यह बात और है। कुलीन

आदमी अभिजात्य चित्त वाला व्यक्ति दो दिनों के बीच में एक रात को देखता है। अकुलीन व्यक्ति दो रातों के बीच दिन को देखता है। कुलीन व्यक्ति फूलों को गिनता है काटों को नहीं और मानता है कि जहाँ फूल होते हैं वहाँ थोड़े कांटे भी होते हैं और उनसे कुछ हर्ज नहीं होता। काटें भी फूल की रक्षा ही करते हैं। अकुलीन आदमी (व्यक्ति) पहले काटों की गिनती करता है और जब वह सब काटों को गिनने लगता है (गिन लेता है) तो कहता है कि एक दो फूल से होता ही क्या है। जहां इतने काटे हैं वहाँ एक दो फूल घोखा हैं।

कुलीन अकुलीन का चुनाव और नाम क्या आप जानते हैं श्रेष्ठ का दर्शन है अभिजात्य है अश्रेष्ठ का दर्शन शूद्र का है। अभिजात्य हो आंख की शर्म रखनेवाला हो स्थिर व्यक्ति हो।

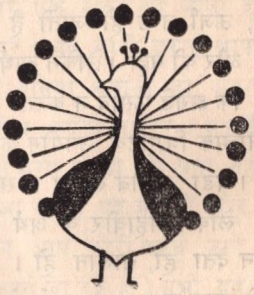

तब और अब !

—मा. आनंद वंदना

—तब

बुद्ध थे
कृष्ण थे
महावीर थे
जीसस थे
लाओत्से थे
रजनीश थे
लेकिन क्या हम भी थे ?
शायद थे ?

लेकिन क्या हम
बुद्ध के
कृष्ण के
महावीर के
जीसस के
लाओत्से के
रजनीश के
साथ थे ?
शायद नहीं !

—अब

रजनीश नहीं बुद्ध
रजनीश नहीं कृष्ण
रजनीश नहीं महावीर
रजनीश नहीं जीसस
रजनीश नहीं लाओत्से
रजनीश नहीं रजनीश
हमारे साथ हैं।
लेकिन क्या हम भी उनके साथ हैं ?
शायद हैं भी और नहीं भी !!

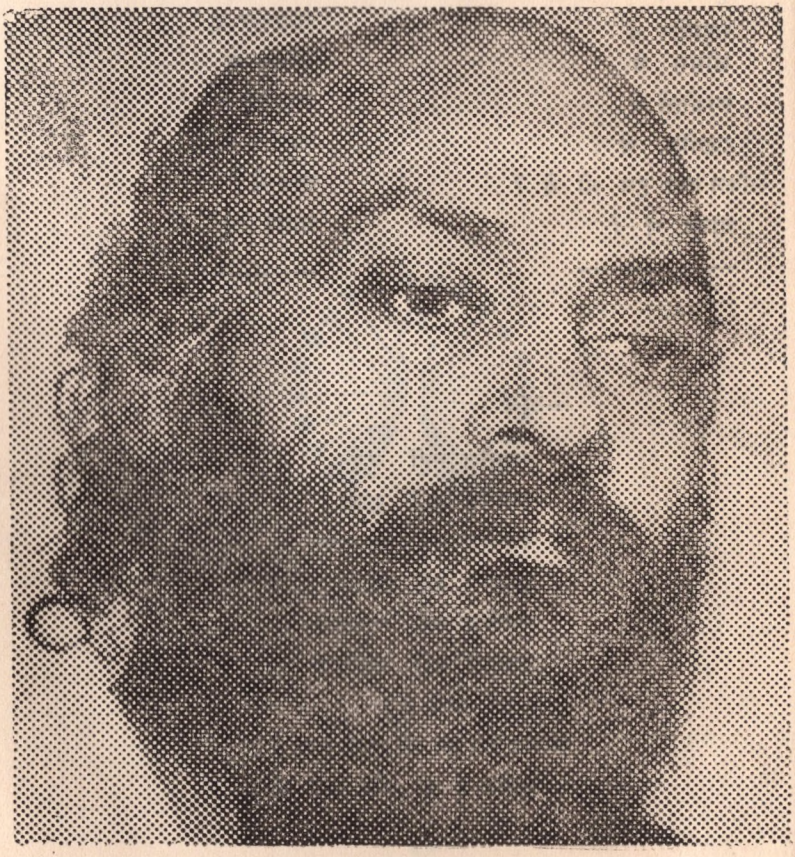

कुछ रोचक स्मृतियाँ

सं. मा योग क्रांति

भगवान श्री की बाल लीला से सम्बन्धित कुछ रोचक संस्मरण हमें एक बार फिर से कृष्ण लीला की याद दिला जाते हैं। भगवान श्री भी अपने युग के पूर्ण पुरूष हैं ऐसा कहने में मुझे जरा भी अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं होती। बचपन में भगवान जब मित्रों के साथ होते तब खेलों में और शरारत में रत रहते। मित्रों को, सहपाठियों को सुझाव देते रहते कि कहाँ क्या शरारत करनी है। लेकिन जब पढ़ने बैठते या किसी बुजुर्ग के साथ बैठते, जिन्हें लोग विद्वान कहते उनके साथ विवाद में उतर जाते तो लगता कि उनसे बड़ी उम्र उनकी है और थोड़ी ही देर में उस विवाद में उसको पसीना-पसीना कर देते।

उस समय उम्र बहुत कम होने से लोग जब विवाद में हार जाते तो कहते अभी कम उम्र है इससे ऐसी बातें करते हो बड़े होने पर सब समझ में आ जाएगा। भगवान उस समय लोगों से कहते थे इससे उम्र का कोई सम्बन्ध नहीं है लेकिन सामने वाले को छुटकारे का कोई उपाय न सूझता तो वह इस तरह अपने मन को समझा कर गुस्से में चला जाता।

उस छोटे दिखाई देते हुए शरीर के भीतर से कौन बोल रहा है इसका पता बेचारे उन अनजान लोगों को लगता भी कैसे। उन्हें शरीर की उम्र ही दिखाई देती थी। बड़े लोगों को अपने अहंकार के कारण उनके ज्ञान को मानने में बड़ी अड़चन होती थी। किन्तु उनके सहपाठी और मित्रों के बीच उनकी प्रतिमा अलग ही

चमकती थी। सारे स्कूल के विद्यार्थी उनकी आज्ञा पर चलते थे, किसी भय के कारण नहीं उनके अनूठे व्यक्तित्व और प्रेम के कारण ही। उनके बचपन के मित्र श्री सुखराज (साधु सुखराज भारती) और कन्छेदी शुक्ल से आबू शिबिर में कुछ रोचक घटनाएँ सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ उन्हें सुनाते हुए दोनों मित्रों के चेहरे को देखने से लगता था जैसे फिर से वे भगवान के साथ उसी बचपन मे वापिस पहुच गये हैं तो अब सुनिए—

भगवान ने प्रत्येक मित्र को उसकी क्षमता देख कर काम बांटे हुऐ थे। शुक्ल जी से अधिकतर लोगों को चिढ़ाने का काम लिया करते थे। शुक्लजी कहने लगे स्कूल से लौटते समय भगवान प्रति दिन किसी न किसी को चिढ़ाने का काम मुझसे करवाते थे। उस समय तो कुछ पता नहीं था कि वे इतने बड़े मनोविशेषज्ञ भी हैं, परन्तु आज जब बचपन की घटनाएं याद आती हैं तब लगता है कि वे मनुष्य के मन को बहुत पहले से जानते थे।

एक दिन की बात है हम लोग स्कूल से घर आरहे थे, रास्ते में एक डाक्टर का बोर्ड लगा था उसे देख कर भगवान ने कहा इसे यहाँ से जो भी विद्यार्थी निकले पढ़ता हुआ निकले "डॉ. हीरालाल गोत्रे" फिर क्या था, एक के बाद एक जो भी विद्यार्थी वहां से गुजरता वह उसे जोर से पढ़ता हुआ जाता। एक दिन तो विचारा डॉ. कुछ सोच में पड़ा, दूसरे दिन जब फिर वही क्रम चालू रहा तो वह क्रोध में आ गया। तीसरे दिन तो उसके सहने के बाहर हो गया, वह चिल्लाने लगा, यह सब क्या है ? इस प्रकार की बस्ती मैंने नहीं देखी, लेकिन उसकी सुनता कौन ? जितना वह क्रोधित होने लगा उतना लोगों का रस बढ़ने लगा। उस दिन तो नहीं परन्तु आज जब भगवान के प्रयोगों को देखता हूँ, तब बचपन फिर से ताजा हो जाता है।

मैं एक दिन भगवान के साथ घूमने जा रहा था। रास्ते में एक गोली बेचन वाला जा रहा था। भगवान बोले शुक्ल इससे दो पैसे की गोली लेलो, और उसके सामने जा कर हाथ टेढ़ा करके आ जाना। भगवान ने जैसा कहा मैंने वैसा किया। मैंने जब किया तब वह थोड़ा चौंका, लेकिन फिर तो जो भी विद्यार्थी जाता उससे गोली मांगता और हाथ टेढ़ा करके, बता कर आगे चला जाता। वह आदमी चिल्लाने लगा, क्या मचा रखा है तुम लोगों ने। और वह गाली देने लगा। उसको गोली बेचने आना एक मुसीबत हो गई।

भगवान के घर के बगल में एक आदमी रहता था। एक दिन रास्ते से जा रहा था। भगवान की नजर उसके बालों पर गई। वह अपने बालों में एक

चिन्दी बाँधे रहता था। वह बड़ी चोटी रखता था। भगवान बोले शुक्ल इस आदमी को चिन्दी चोर कह कर आगे चले जाना। मैंने उसे चिन्दी चोर कहा और आगे चलने लगा, उसने मेरा पीछा किया। मैं भागा मुझे वह पकड़ न सका। उस दिन से जो भी उसके घर के सामने से निकलता उसको चिन्दी चोर कह कर भाग जाता। रास्ते पर निकलता तो भी लोग उसे चिन्दी चोर कह कर पुकारते। उसका घर से निकलना मुश्किल हो गया। एक दिन वह भगवान की दुकान पर पहुँच गया। भगवान के पिता दुकान पर बैठे थे। वह जाकर बोला आपका लड़का मुझे गाली देता है। पिता जी उससे पूछते कौन सी गाली देता है। वह कैसे कहे कि चिन्दी चोर कहता है। बार-बार कहता गाली देता है। एक दिन चिन्दी चोर बीमार था। भगवान उसके घर के सामने से चिन्दी चोर कह कर पुकारने लगे। उसकी पत्नी को गुस्सा आ गया वह चिल्लाने लगी, चिन्दी चोर, चिन्दी चोर, चिन्दी चोर का तो तुम लोगों ने जीना हराम कर दिया है। वह विस्तर पर से उठा अपनी पत्नी से चिल्ला कर बोला तू भी उनका साथ दे रही है।

भगवान को वचपन में नदी में तैरने का बहुत शौक था। उन्होंने गाड़र-वारा की शक्कर नदी में एक घाट खोज निकाला वहाँ पानी की गहराई सबसे अधिक है। उस घाट का नाम दिया उन्होंने "राम घाट" वहाँ जाकर मिट्टी लगाना और ३–४ घंटे स्नान करना उनका नियमित कार्य था। भगवान जब राम घाट जाते थे उस समय घाट की रौनक ही और थी। सब मित्र वहाँ इकठ्ठे हो जाते थे। ४०–५० फुट की उँचाई से नदी में गोते लगाते थे। भगवान पहले स्वयं कूदते पीछे दूसरों को कूदने को कहते। सब एक के बाद एक पानी में कूद जाते। भगवान हम लोगों की गर्दन पकड़ कर नीचे गहरे पानी में ले जाते, तब तक न छोड़ते जब तक श्वाँस घुटने न लगे। बाहर लाकर पूछते मजा आया। उस समय उन्हें क्या उत्तर देते। लगता मेरी जान निकलने को थी और आप पूछ रहे हैं मजा आया।

आज उनके ध्यान के प्रयोगों को देख कर लगता है, आज जो करवा रहे हैं वह तो वे बहुत पहले से करवाते आ रहे हैं। नदी से सम्बन्धित एक और घटना याद आ रही है–हम लोग १० वीं कक्षा में पढ़ते थे। उस समय हम लोगों का नदी में डोंगी द्वारा घूमना प्रायः प्रतिदिन का कार्य रहता था। जिस जगह हम लोग जाते थे वहाँ पहुँचने के दो रास्ते थे। एक रास्ता ऐसा था जिससे आसानी से जाया जा सकता था, किन्तु एक रास्ता ऐसा था

कि यदि पैर चूका तो मौत । रात्रि का समय होता था। इतना सम्हल-सम्हल कर चलना पड़ता था कि जरा सी चूक मौत का कारण बन सकती थी । इसके पश्चात डगमगाती नाव पर बैठना, जिस पर सन्तुलन कभी बनता ही नहीं था । साथ में कई मित्र ऐसे होते थे जिन्हें तैरना नहीं आता था, उन्हें उसमें बैठाना जब नाव बीच नदी में पहुंचे भगवान नाव को बीच में डुबो देते थे। २० फुट गहरा पानी आधी रात का समय तैरना न जानने वाले मित्र पानी में डूब रहे हैं, भगवान उनको पकड़ कर और गहरे तक ले जाते जब तक वे घबड़ा न जायें। भगवान के लिए यह सब एक खेल से ज्यादा कुछ भी नहीं था।

जहाँ-जहाँ खतरा होता था भगवान वहाँ अवश्य जाते थे । दूसरे मित्र भी उस आनन्द से वंचित न रह जायें इसलिए उन्हें भी साथ रखते थे। भगवान –बाढ़ आई नदी में कूद जाते थे। एक बार नदी में बहुत ही बाढ़ आई हुई थी । भगवान बोले इस बाढ़ में इस पार से उस पार तक चलना है । यह सुनते ही सब मित्र सन्नाटे में आ गये । किन्तु उनकी बात को उस समय भी कोई मित्र टाल नहीं सकता था। पार करना था । सबसे पहले भगवान कूदे उसके बाद सब मित्र कूदे ।

यहाँ तक तो ठीक था किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं होती थी। स्थान भी पहले से निश्चित होता था कि किस स्थान पर जाकर रुकना है । बाढ़ आई नदी में यह असम्भव रहता है। किन्तु भगवान उसी स्थान पर पहुँचते थे। इसके पश्चात् नदी के उस पार पहुँच कर एक ऐसे स्थान से कूदना जो ५० फीट ऊँचा था । भगवान पहले कूदते थे। अनेक मित्र कूदने के स्थान तक पहुँच कर वापस लौट जाते थे। भगवान उन मित्रों को पकड़कर पानी में फेक देते थे । भगवान ने कई मित्रों को तैरना सिखाया।

गॉव में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे "राठी जी"। भगवान को उन्हे चिढ़ाने की सूझी : राठी जी अपनी दुकान की गद्दी पर बैठे रहते थे । भगवान उनकी दुकान के सामने से निकलते और "राठी जी, नमस्कार" करके चले जाते। पांच-दस मिनट के बाद वापस आकर फिर नमस्कार करके चले जाते । राठी जी एक दो बार जवाब देते लेकिन थोड़ी देर वाद गुस्से में आ जाते। उनको चिढ़ाने की कुंजी हाथ लग गई। फिर तो क्या था सब मित्रों को बता दिया जो भी निकलते राठी जी नमस्कार करता जाये। राठी जी थोड़े दिनों में आपे

स बाहर हो गए। इतने से ही उनका पीछा नहीं छोड़ा, जितने अधिक वे चिढ़ने लगे उतना रस आने लगा ।

रात राठी जी दुकान के बाहर सोते थे सोते समय भी उनकी चादर खींच कर नमस्कार करने लगे । गुस्से में वे बोले रात को तो सोने दो, कम से कम नींद में भी कोई नमस्कार करता है। उस रात से उनको पहले जगा देते फिर उनसे नमस्कार करके चले जाते। राठी जी अगर किसी से कहें भी तो क्या कहें । लोग कहते लड़के नमस्कार ही तो करते हैं ।

मा योग क्रांति

"और उन्होंने मुझे बनाया !!"

मा आनंद वंदना

कभी सोचा भी नहीं था कि ऐसा भी कुछ होगा — और सोचना भी तो मुश्किल था !

उन दिनों मैं पढ़ रही थी — और भगवान श्री साल भर में एक-दो बार पूना आ ही जाते थे — और पिता जी हमें उनके भाषण सुनने के लिए साथ ले ही जाते थे ।

— अब यह बात तो पक्की थी कि पल्ले कुछ पड़ता नहीं था ! बस कहानी आ गई कि हम लोग सँवर कर बैठ जाते थे और मजे की बात तो यह थी कि वह कहानी भी आधी – अधूरी समझ में आती थी !

— उसके बाद वे आते रहे — हम शिबिरों में जाते रहे ।

— 'अब कभी–कभी पिता जी मुझसे कहने लगे कि "भई" तुम भी अनुबाद करने लगो'। — कई बार कहा उन्होंने मुझसे ! लेकिन मैं थी

कि उनका कहना माना नहीं । —— और मानती भी कैसे ? वक्त आया ही नहीं था ठीक-ठीक ।

—— उसके कुछ दिनों बाद बम्बई से किताबों का पार्सल आया । मेरी नजर सबसे पहले "प्रेम के फूल" पर पड़ी —— मैंने झटके से उठाली वह किताब, और पढ़ने लगी ।

—— मैं पढ़ती ही जा रही थी —— पढ़ती ही जा रही थी —— पढ़ती ही जा रही थी ——

—— किताब पूरी पढ़ली मैंनें —— फिर खुशी का ठिकाना ही न रहा —— जी करने लगा कि मैं खूब नाचूं, हँसू, रोऊँ —— रजनीश के चरणों पर गिर-गिर जाऊँ ।

—— यह सब क्या हो रहा था —— क्यों हो रहा था । मैं नहीं जानती ।

---- हाँ, इधर एक — दो वर्षों से यह बात जरूर थी कि जब भी मैं दूसरों के नाम 'उनके' पत्र देखती तो मुझे लगता था कि कभी मेरे नाम भी उनका एकाध पत्र आए —— वे मुझे भी कुछ लिखें ——

—— मै खुद भी चाहती थी कि उन्हें कुछ लिख भेजूं ।

—— लेकिन न मैने उन्हें कुछ लिखा न उन्होंने मुझे !

—— और उस वक्त "अनलिखा पढ़ना" —— "अनलिखे पत्र,"' ये सब बकवास थी मेरी दृष्टि में !

लेकिन ये प्रेम के फूल —— यह पत्रों का संग्रह जादू कर गया —— मुझे लगा इतने —— "इतने" सारे पत्र मेरे नाम ! मैं पागल-सी हो गयी थी- —— और उस पालगपन के दौर में ही मैने उन सभी पत्रों का अनुवाद कर डाला —— हाँ अनुवाद !

इसे यूं कहना चाहिए कि वह अनुवाद किया नहीं गया, बस हो गया !

—— जिसके बारे में मैंने कभी सपनों में भी सोचा नहीं था —— और अब तो मेरा हाल यह है कि उनकी किताबों का अनुवाद ही मेरे लिए 'सबकुछ' है ।

—— पूजा है ।

—— प्रार्थना है ।

—— ध्यान है ।

—— और अब कभी इस बारे में सोचती हूं तो लगता है कि ऐसी बातें —— अनहोनी बातें रजनीश ही कर सकते हैं —— ।

"अभय जिनमें साकार हुआ है"

–स्वामी आनन्द मैत्रेय

भगवान रजनीश को सुनने का मेरा यह पहला मौका था। १९६५ की वर्षा में वे दिल्ली पहुँचे थे। और वहाँ उनके कोई चार-पाँच प्रवचन हुए, जिनमें मुझे उनकी ओजमयी वाणी के, परम वाणी, के प्रथम दर्शन हुए।

तब तक देश–विदेश के चोटी के राजनेताओं और वक्ताओं को मुझे सुनने का अवसर मिला था। लेकिन वाणी की ऐसी प्राणमयी, मन्त्रमयी, चित्रमयी, काव्यमयी, अजस्र धारा मैंने कभी नहीं, कहीं नहीं देखी थी। स्वर्गीया सरोजनी नायडू और डॉ. राधा कृष्णन् को सुनकर चकित – प्रसन्न हुआ था; भगवान रजनीश को सुनकर मैं अक्षरशः अवाक् ही रह गया।

पहली ही बार मुझे लगा था कि यह पुरुष सीधे जीवन की गंगोत्री से बोलता है। शब्द और साहित्य, सूचना और ज्ञान तो इसके वक्तव्य के लिए मात्र उपकरण का काम करते हैं; लेकिन, स्वयं जो वक्तव्य है, वह इन सबके कहीं पार से आता है, शायद वहाँ से, जहाँ स्वयं जीवन-देवता बसता हो।

लेकिन, वक्तृता से भी बढ़कर इनकी जिस चीज ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया था, वह था उनका अप्रतिम अभय। ऐसे अभय से कभी मुझे जीवन में मुलाकात नहीं हुई थी, यद्यपि राष्ट्रवादी आन्दोलन में अनेकों कालापानी जाने, गोली खाने और सूली चढ़ने के सच्चे आकांक्षियों से मेरी मुलाकात हो चुकी थी।

यहाँ यह भी बताना अनुचित नहीं होगा कि चरित्र के सभी गुणों में अभय मुझे सबसे अधिक आकर्षित करता आया है; क्योंकि स्वयं मैं आजीवन भयभीत रहा हूँ। शायद इसलिए भी भगवान श्री का अभय-रूप मेरे मानस पर सब से अधिक स्पष्ट होकर उभरा है ।

हाँ, तो उन्हीं दिनों मैं जैन धर्म के दो दिग्गज महंत भी दिल्ली में अपना चौमासा बिता रहे थे । एक थे तेरा पंथ के प्रसिद्ध नेता आचार्य तुलसी और दूसरे थे दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य देशबंधु । और लाला सुन्दर लाल को क्या सूझी कि एक दिन सबेरे-सबेरे इन दोनों के सानिध्य में ही उन्होंने आचार्य रजनीश के कार्यक्रम रख दिए । तब भगवान श्री इसी नाम से जाने जाते थे और तब उनकी उम्र सिर्फ चौतीस वर्ष थी । और देश के क्षितिज पर बिलकुल नई –नई प्रतिभा की तरह उभरने ही लगे थे ।

जैन – समाज में लालाजी हैसियत के व्यक्ति हैं, शायद इसी से यह चमत्कार सम्भव हो सका ।

आचार्य तुलसी और आचार्य देशबंधु पुरानी दिल्ली के अपने-अपने मन्दिरों में सदल-बल टिके थे । आचार्य जी पहले तेरा पंथ के मन्दिर में बोले; फिर एक घँटे के ही अन्तराल में दिगम्बरों के मन्दिर में ।

और, यह वह समय था, जब भगवान श्री सीधे बुद्धि को सम्बोन्धित करते थे, पुकारते थे । कहा जाए कि प्रखर बौद्धिकता के सहारे शुद्ध सांख्य का प्रतिपादन कर रहे थे । प्राचीनता से ओतप्रोत इस देश के जीवन के लिए यह बिलकुल नया और अद्भूत स्वर था ।

पुराने साधु-सन्तों की गोल-मोल शब्दावलि से हम भलीभाँति परिचित हैं । उनके बीच इस युवा सत्य-दृष्टा की सर्वथा अपरिचित वाणी, उस्तरे की धार से भी तीखी, कुछ अजीब सी लगी । लगा कि सदियों से बने कारागृह के मुख्य द्वार पर कोई तारणहार हथौड़े की चोट करने पहुँच गया है । सत्य शास्त्रों में नहीं है; वह गुरूओं से भी नहीं मिल सकता है। संगठित धर्म व्यर्थ ही नहीं, अनर्थकारी हो चले हैं । साधु – सन्तों और पंड़े-पुरोहितों के हाथों वे मात्र व्यवसाय बन कर रह गये हैं। सत्य का संगठन नहीं हो सकता। सत्य तो स्वयं प्रत्येक व्यक्ति के भीतर है । और उसे पाने के लिए सबसे पहले उसको समस्त विश्वासों से, संगठित धर्मों से, पंडे – पुजारियों से मुक्त हो जाना पड़ेगा । और तभी सत्य में प्रवेश सम्भव है, पहले नहीं ।

भगवान श्री के वक्तव्य के मुख्य स्वर यही थे ।

आचार्य तुलसी के पास उनका पहला प्रवचन हुआ । श्रोता तो उनकी वाणी से मन्त्र-बिद्ध जैसे हो गए; लेकिन जो महंत और साधु-साध्वी किस्म के लोग थे, उनके मुंह देखने ही लायक थे । वे किं कर्तव्य-मूढ़ और ठगे-ठगे से दिखाई पड़े । भगवान श्री के बोलने के बाद स्वयं आचार्य तुलसी और उनके एक-दो अनुयायियों ने जवाब देने की कोशिश की । लेकिन मुझे ऐसा लगा कि वे लोग उसके लिए तैयार नहीं थे और बिलकुल हतप्रभ हो रहे थे ।

जब तेरा-पंथ के मन्दिर से हम बाहर निकले, तब मुझे सच ही लगा कि यह व्यक्ति तो बहुत खतरनाक है । किसी भी समय अपने को और अपने साथियों को विपद में डाल सकता है। और तभी एक झटके के साथ मेरी समझ में आया कि सुकरात को उनके समाज ने जहर क्यों दिया होगा और ईसा को सूली क्यों ?

इसलिए लगे-लगे जब भगवान श्री के साथ आचार्य देशबन्धु के मठ पर हमारा आना हुआ, तब मैं भीतर ही भीतर काफी डर गया था । मुझे आश्चर्य हो रहा था कि आचार्य तुलसी और उनके अनुयायियों ने चुप-चुप कैसे इन्हें झेल दिया । यदि रजनीश सही हैं, तो उनका सारा कारबार मात्र दुकानदारी और धोखाधरी के और कुछ नहीं है ।

लाल किले के ठीक आमने-सामने दिगम्बर सम्प्रदाय का मन्दिर खड़ा है । इस मन्दिर की संरचना भी कुछ किलानुमा है। आचार्य तुलसी की जगह तो कुछ खुले में थी; लेकिन, यहां तो हम बिलकुल घेरे के भीतर आ गये थे। इसलिए मेरा भय और भी प्रगाढ़ हो चला । मैं सोचने लगा कि यहाँ भी यदि वैसा ही भाषण हुआ, तो कुछ उपद्रव होकर रहेगा । एक जगह से बचकर निकल आए, लेकिन जरूरी नहीं कि यहाँ से भी हम बच कर निकलें ।

लेकिन जब मै भगवान श्री के मुंह की ओर निहारता था, तब वहाँ किसी तरह की भी हलचल नहीं दिखाई देती थी । न उस पर मैदान मारने का कोई भाव था और न मैदान से हटने का ही । और जब वे बोलने लगे, तब यहाँ भी उनकी वाणी में वही प्रखरता प्रवाहित थी । जिस नदी में बाढ़ आई हो, जो पूर पर हो उसके प्रवाह की आप कल्पना कर सकते हैं । और ज्यों-ज्यों यह पहाड़ी नदी आगे बढ़ी, मेरा भय भी गहराता गया । विपद आसन्न है, यह मुझे साफ दिखाई देने लगा ।

मुझे यह भी मालूम हुआ कि आचार्य देशबन्धु की उसी दिन हीरक जयन्ती

मनायी जाने वाली थी । अपराह्न में लाल किले में समारोह सम्पन्न हुआ, जिसमें राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री भी उनके सम्मान में उपस्थित थे ।

और यहाँ के भाषण में एक जगह भगवान श्री ने अपने श्रोताओं को सीधे सम्बोधित करते हुए कहा कि मैं ये बातें किसी का अनादर करने को नहीं कहता हूँ । मेरे भीतर किसी के लिए भी अनादर के भाव नहीं है । लेकिन, क्योंकि मेरे हृदय में आपके लिए, जो मुझे सुन रहे हैं, बहुत आदर है; इसलिए आपके सम्मान के हित सत्य को कहने के लिए मजबूर हूँ ।

मुझे आश्चर्य हुआ कि यहाँ भी आचार्य देशबन्धु और उनके अनुयायियों ने जवाब देने की वैसी ही मुर्दा कोशिश की, जैसी पूर्व स्थान पर हो चुकी थी । वही गोल-मोल बातें, बेजान बातें, जैसे कोई सांप के चले जाने पर उसकी लकीर पीट रहा हो ।

जब सभा समाप्त हुई, तब मेरा भय फिर सजीव हो उठा । मुझे लगा कि अब कुछ संकट खड़ा हो सकता है । कम से कम पथराव के लिए तैयार हो जाना चाहिए । लेकिन, जब मन्दिर के बाहर सड़क पर हमलोग निरापद आ गए, तब मुझे जान में जान आई । मैंने मन ही मन अपने नियंता को धन्यवाद दिया । लेकिन भगवान श्री वैसे ही थे, जैसे सदा होते हैं –अनुद्विग्न और प्रशान्त और प्रसन्न । मोटरकार में बैठने पर मैंने उनसे अपने भयों की बात बताई । उन्होंने मुस्कराते हुए कहा : इन लोगों में उतना साहस भी नहीं है । देखा नहीं, अपने जवाब में वे झाड़ के आसपास डंडे चला रहे थे । वे यह भी नहीं कह सके कि यह आदमी गलत कहता है, दोनों जगह वही गोल-मटोल बातें दुहरायी गई ।

लेकिन, मेरे लिए तो उस दिन का यह अनुभव आजीवन स्मरणीय रहेगा।

अभय धर्म का आधार है । उस अभय का, भगवान रजनीश का शत-शत अभिनन्दन !

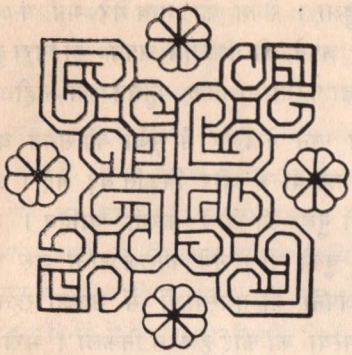

स्वामी कृष्ण सरस्वती जी के आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश के स्व अनुभव :

सं. मा योग क्रांति

स्वामी जी से एक दिन चर्चा के दौरान उनके जीवन में संन्यास का फूल किस प्रकार खिला, मैं पूछ बैठी। स्वामी जी ने जो भी कहा उससे उनके व्यक्तित्व की झलक मिलती है। और किस प्रकार लोग भटकते हुए भगवान श्री के निकट आकर जिसकी खोज पर निकले थे उसका मार्ग उनके सन्मुख प्रशस्त होता है।

स्वामी जी ने अपनी छोटी उम्रसे ही पूरी कथा सुनाई। मैंने उनसे पूछा, आप इस जिज्ञासा से कब से भर गए, भक्ति में इतनी रूचि आपकी कैसे जागृत हुई ?

"मैं जब छठवीं कक्षा में पढ़ता था तभी से मेरी रूचि इस ओर हो गई, मेरे प्रिन्सिपल और कक्षा के शिक्षक प्रतिदिन प्रार्थना के पश्चात महापुरुषों के बारे में विद्यार्थियों से चर्चा करते थे। मैं उससे बहुत प्रभावित होने लगा। मुझे रामकृष्ण के बारे में सुनकर उनके जीवन को और अधिक जानने और समझने की उत्सुकता हो गई।

मैं एक दिन एक किताब खरीद लाया, उसे पढ़कर मैं उसमें खो गया। उनके चित्र पर ध्यान करने लगा। संतों की किताबें खरीद कर पढ़ने लगा। मेरे संस्कृत के शिक्षक ब्रह्मचर्य के संबंध में समझाते थे। उनकी बातें सुनकर मैं सेक्स से घृणा करने लगा। मैं सेक्स के विरोध में सोचने लगा। जिसका दुष्परि-

णाम मेरे चित्त पर हुआ। सेक्स का भाव मेरे मन म आ जाता तो में अकेले में रोता, अपने ही हाथों अपने को पीटता। अपने को गिरा हुआ, पतित अनुभव करने लगा, कि मेरी योग्यता परमात्मा तक पहुँचने की नहीं है।

सेक्स से मुक्ति पाने के लिए मैं पूजा का समय बढ़ाने लगा। उससे भी मेरा वह भाव गया नहीं बल्कि और विकृति बढ़ गई। इससे ऊब कर मुझे ऐसा लगने लगा कि किसी गुरू की खोज करनी चाहिए। अब तक मेरी हाईस्कूल की पढ़ाई समाप्त हो चुकी थी। मैंने कॉलेज जाना शुरू कर दिया था। कॉलेज में "मैं" अकेला रहता, अपनी ही समस्याओं में उलझा रहता। किताबें पढ़ता रहता परन्तु उससे मेरी समस्या का कोई हल न निकला। मेरी गुरू की तलाश बढ़ती चली गई।

गुरू की खोज में मैं एक हठयोगी के पास गया, उनसे मैंने हठयोग की क्रियायें सीखीं किन्तु उससे शारीरिक स्वास्थ्य को लाभ हुआ मेरी समस्या का कोई हल न निकला। तब मैंने खाने पीने में परिवर्तन करना शुरू किया। सिर्फ मूँग की दाल और उबाली सब्जी ही खाने लगा। उससे भी मन में जो भाव बैठा था उससे कोई छुटकारा न मिला।

एक दिन मैंने अपने एक मित्र के साथ घर छोड़कर कहीं चले जाने का निश्चय कर लिया किन्तु मित्र ने मुझे धोखा दिया, वह समय पर घर न मिला जिससे मुझे बड़ा धक्का लगा और मैं घर वापस आ गया। उसी समय स्वामी महेश योगी अहमदाबाद आए हुए थे। दूसरे दिन मैं उनके निवास स्थान पर गया उन्होंने मुझे मन्त्र दीक्षा लेने को कहा। दूसरे दिन उन्होंने मुझे मन्त्र दीक्षा दी। उस मन्त्र का जप मैंने पन्द्रह दिनों तक किया। उससे भी कुछ लाभ नहीं हुआ। उसके बाद मैं माँ आनन्द मयी से आकर्षित हुआ। उनके निकट जा कर मैं बहुत रोने लगा। मेरे एक पुजारी मित्र थे, उनसे गायत्री मन्त्र लेकर मैं उसकी उपासना करने लगा। उससे भी मुझे कोई लाभ नहीं हुआ।

उसके बाद मैं स्वामी रामतीर्थ के शिष्य के आश्रम में चला गया। उन्होंने मुझे श्वाँस पर ध्यान का प्रयोग बताया। उनके प्रयोग को मैं एक साल तक करता रहा, उससे थोड़ा ध्यान का लाभ मुझे मिला। लेकिन पूरा सन्तोष और मेरी सेक्स के प्रति घृणा की धारणा न बदली इससे मैं गुरू की तलाश में लगा ही रहा। उसी बीच मैं ऋषीकेश हिमालय की ओर चल दिया। वहाँ मैंने संत मस्त-राम जी के साथ एक माह तक सत्संग किया। उसके बाद मैंने उत्तर काशी यमनोत्री,

गंगोत्री, बद्रीकेदार इत्यादि स्थानों तक पदयात्रा की जहाँ और भी सन्त मिले । घूमने फिरने की वासना भी पूरी हो गयी परन्तु गुरू को तलाश अभी भी जारी थी ।

एक दिन अचानक भगवान श्री रजनीश जी की "क्रान्ति बीज" और "साधना पथ" पुस्तकें पढ़ने में आईं । उनको पढ़कर मैं उनके विचारों से बहुत प्रभावित हुआ उसके बाद भगवान श्री से मिला उनसे करीब आधे घण्टे तक बात-चीत की, उन्होंने मुझे संन्यास लेने को कहा मै राजो हो गया । मैंने २९ नवम्बर को उनसे संन्यास ग्रहण किया उसके बाद मैं "आजोल साधना शिबिर" में गया वहाँ भगवान श्री के सानिध्य में ध्यान के प्रयोग किए उससे मुझे बहुत लाभ हुआ । पहली बार लगा जिसको मुझे इतने दिनों से तलाश थी, जिसके लिए इतना भटका वह भटकन आज सार्थक हो गयी । "आजोल साधना शिबिर" के पश्चात भगवान श्री ने मुझे अपने पास बुला लिया । मेरी गुरू की तलाश पूरी हो गयी । अब मै आनन्द से जीता हूँ । मेरे मन की सारी ग्रन्थियाँ सुलझ गईं ।

(स्वामी श्री कृष्ण सरस्वती जी ध्यान में गहरे गये हैं, समूह प्रभु-चिकित्सा करते हैं । आपने प्रचार हेतु भारत में विभिन्न स्थानों पर ध्यान-शिबिर लिए हैं और हाल में भगवान श्री का संदेश लेकर (आफ्रिका)–नैरोबी गये हैं। भगवान श्री के आशिष व हमारी शुभकामनाएँ उनके साथ हैं।)

'....अब प्रश्न आपका होगा और उत्तर मेरा !'

–साधु अमृत बोधिधर्म, पूना

उन दिनों पूना में सक्रिय ध्यानके प्रयोग -- सामूहिक प्रयोग होते थे ।

एक दिन हम लोगोंने त्राटक ध्यानका प्रयोग किया -- भगवानश्रीका ध्यानस्थ अवस्थाका, बंद आँखोंवाला फोटो सामने था---- मैं कोई दस मिनट तक नाचता, उछलता रहा और फिर उनके फोटोके सामने जाकर बैठ गया और उनकी बंद आँखोंकी तरफ देखने लगा-- मैं देखता हो जा रहा था देखता हो जा रहा था--

अब मेरे लिए सिर्फ वे दो आँखें ही थीं— मैं उनकी ओर देखे जा रहा था— मेरे पास ही एक साधक मित्र जोर-जोर से चिल्ला रहे थे, 'बोल ! बोल !'— और दूसरे साधक मित्रोंकी आवाजें भी आ रही थीं — लेकिन मैं वे सुनकर भी नहीं सुन रहा था— और— और फिर उनकी आँखें अचानक खुल गयीं – मैं अवाक होकर देखता ही रह गया— वे आँखें मुझे देखे जा रही थीं– करुणा लुटा रही थीं–

और मैं था कि जोर-जोरसे हँसने लगा, तालियाँ बजाने लगा, नाचने लगा ।

— उस वक्त मैंने जो बात अनुभव की, अपने भीतर महसूस किया उसके बारेमें कुछ भी कहना बहुत मुश्किल है ।

—तो उसके बाद फरवरी १९७१ में भगवानश्री पूना पधारे थे— और उस दिन दोपहर उन्होंने सिर्फ उन्हीं मित्रोंको — जो ध्यानमें शरीक हुए थे — मिलनेके लिए बुलाया था ।

उसमें कुछ मित्रोंने साँस आदिके बारेमें कुछ प्रश्न पूछे — उसके बाद मैंने उपरोक्त त्राटक ध्यानमें मुझे जो अनुभव हुआ, उसके बारे में पूछा ।—

—मैंने जैसे ही उस बारेमें पूछा, भगवानश्रीने कुछ इस प्रकार मेरी तरफ देखा कि जैसे पहले कभी नहीं देखा था — उनकी भृकुटियाँ पूरी तरह तन गयी थीं और वे प्रश्नार्थक मुद्रासे मेरी तरफ देख रहे थे — और वह मुद्रा बहुत कुछ कह गयी— उसके बाद वे बोले,

बिलकुल खुल सकती हैं !

— मैं भी चित्रसे बाहर आ सकता हूँ ! ! —फिर आपको अपने सवाल का जवाबभी मुझसे मिल सकता है !' — फिर हमेशा की तरह बोले 'बहुत ठीक ! अब प्रश्न आपका होगा और उत्तर मेरा !'

— वे इस बारेमें और भी कुछ बताने जा रहे थे कि किसी मित्रने बीचमेंही कोई बात पूछ ली और वह बात वहीं रह गयी —

— मैं अपनी जीवन की उस घड़ीको कभी नहीं भूल सकता । वह, त्राटक का प्रयोग और उसके बारेमें भगवान श्री का जवाब मेरे दिल में गहरे में जा बसा है !

सचमुच बड़े अजीब हैं ये ध्यानके प्रयोग — जो आदमीको कहाँ से कहाँ ले जाते हैं !

— अब तो मैं हू ही नहीं — बस रजनीश है और आनंद है ।

— और अब ध्यान में मेरे सवालोंका जवाब वे आँखे दे ही देती हैं ।

(पूना – २०।११।७२)

रजनीश-बोधिवृक्ष-मौलश्री

मा योग क्रान्ति

जीवन में कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जिनकी स्मृति मात्र से हृदय पुलकित हो उठता है।

ऐसी ही एक रहस्योद्घाटन की घटना आप सबको कहे बिना मन मानता नहीं है। यह घटना ऐसी है, जिसे जानने को न जाने कितने हृदय लालायित हैं।

भगवान् को ज्ञान की उपलब्धि कब हुई, इसे जानने को कौन उत्सुक न होगा। सभी के मन में इसे जानने की अभीप्सा तो होती ही थी।

कितने मित्रों ने मुझसे पूछा, किन्तु मैं स्वयं ही उसे जानती नहीं थी। किसी को क्या कहूँ।

भगवान से मैंने कभी इस बाबत जानने की इच्छा ही प्रगट नहीं की। जब कोई मुझसे पूछता तो मन में विचार आता कि उनसे पूछ लूँ। पर कभी पूछा नहीं।

कल रात, २७ नवम्बर, १९७२ को इतने दिनों से जिसे जानने की जिज्ञासा थी, वह मुखर हो उठी।

रात्रि के करीब साढ़े ग्यारह बजे थे। भगवान् श्री दूध पीकर अपने बिस्तर पर सोने चले गये। मैं भी जाकर लेट गई। लेटते ही अचानक मन में ख्याल आया पूछने का कि भगवान को ज्ञान कब हुआ ?

जैसे ही विचार आया मैं एकदम पूछ बैठी, "आपको ज्ञान कब हुआ ?" भगवान हँसे —— हँसते हुये ही बोले, "लोग पूछते हैं तुझसे या तुझे स्वयं ही जानने की प्रेरणा हुई है ?"

मैंने कहा, 'दोनों बातें सच हैं, आप बताइये।"

भगवान फिर हँसे कहने लगे, "फिर कभी बताऊँगा।"

मैंने कहा, "मुझे आज ही जानना है।"

उन्होंने कहा, 'तू खुद सोच, तुझे ख्याल में आ जायेगा।"

मैं थोड़ी देर चुप रही। उसके बाद मैंने कहा, "मुझे ऐसा लगता है कि २१ या २२ साल की उम्र में जब आप इंटर में पढ़ते थे उस समय आपको ज्ञान उपलब्ध हुआ।"

मैंने जैसे ही इतना कहा भगवान् ने गम्भीरता से कहा, "२२ नहीं २१ साल की उम्र मैं।"

फिर मुझे तारीख और सन् जानने की उत्सुकता हुई और मैंने उनसे यह पूछा।

भगवान श्री बोले, "२१ मार्च सन् १९५३ में।"

थोड़ी देर चुप रहने के बाद मैंने पुनः पूछा, "किस जगह हुआ ? । क्या उस दिन कुछ विशेष घटना घटी थी ?"

भगवान् बोले, "तू याद कर, तुझे सब याद आ जायेगा।"

मैं शान्त होकर लेट गई, तभी मुझे २० साल पहले की एकरात याद आ गई। मैंने कहा, "जिस रात १२ बजे उठकर अचानक आप मुझसे कह कर चले गये थे और रात को ३ बजे लौटे थे।"

भगवान श्री बोले, तूने एकदम ठीक पकड़ा -- ठीक उसी रात....

मुझे आश्चर्य हुआ कि मैं जो देख पा रही हूँ, क्या वह सच है 1

भगवान उसे कह रहे हैं कि बिलकुल ठीक है। क्या मैं पीछे देख सकती हूँ ? सब उनकी ही लीला है। वे ही कुछ कर रहे हैं।

ऐसे विचार चल ही रहे थे कि मुझे फिर दूसरी जिज्ञासा जागी कि कितने बजे रात को कहाँ, किस जगह पर भगवान श्री को ज्ञान हुआ।

उसी समय मैं पूछ बैठी, "उस रात कहाँ गये थे ?"

भगवान बोले, "**भँवरताल के बगीचे में**।"

जैसे ही उन्होंने कहा कि बगीचे में, मुझे एक दरख्त की याद आई। मैंने कहा, "बगीचे में जाकर अशोक के दरख्त के नीचे बैठे थे।"

वे बोले, "नहीं, "मौलश्री– के नीचे था।"

फिर मैंने पूछा, "१२ से ३ बजे तक बगीचे में थे तो घटना कितने बजे रात को घटी ?"

वे बोले "तू सोच तुझे याद आ जायेगा।"

मैं थोड़ी देर चुप रही, तो उस रात के वे सारे दृश्य आँख के सामने आने लगे कि कैसे घर से गये, किस तरह धीरे से मुझे जगाया। कहा कि मैं जा रहा हूँ, कब लौटूंगा पता नहीं।

वे तो इतना कह कर चले गये। मैं पूरी रात जाग कर उनके लौटने की राह देखती रही।

बाद में वह सारी घटना एकदम घूम गई कि वे कैसे बगीचे में जाकर उस दरख्त के नीचे बैठे होंगे। वह मुद्रा याद आने लगी। उस मुद्रा के ध्यान में आते ही मुझे लगा कि २ बजे रात को वह घटना घटी।

जैसे ही मुझे रात दो बजे ख्याल में आया मैंने उनसे यह सब कहा।

वे कहने लगे, ठीक २ बजे घटना घटी। तू अब ठीक पकड़ने लगी।

मैं फिर आश्चर्य से भर गई और उसी आश्चर्य से भरी सोने की कोशिश करने लगी, पर इतनी खुशी से भर गई थी कि नींद आना असम्भव हो गया था। बार-बार लगता कि सबको जाकर जगा दूँ। सबसे कह दूँ। परन्तु उठी नहीं, उसी तरह पड़ी रही। रात बहुत देर तक सो न सकी। फिर निद्रा में प्रवेश हुआ।

दूसरे दिन सुबह उठी तो आनन्द से मेरा रोआं– रोआं नाच रहा था इस महान रहस्योद्घाटन की मधुर स्मृति में।

याद आता है, भगवान बुद्ध और बोधगया का बोधि-वृक्ष।

और याद आता है, भगवान श्री रजनीश और भँवरताल, जबलपुर का मौलश्री वृक्ष।

कितने अद्भुत रूप से इतिहास दुहरता है।

बोधगया का बोधि वृक्ष पूरे विश्व के बुद्ध-प्रेमियों का तीर्थ है।

और भँवरताल, जबलपुर का "मौल श्री वृक्ष।"

क्या हमने पहचाना था बुद्ध को?

क्या हम पहचान पा रहे हैं रजनीश को?

अमृत को,

आनन्द को,

आलोक को?

गंभीरता !

२० अक्टूबर, १९७१ वुडलैण्डस्, बम्बई में दिया गया अंग्रेजी प्रवचनः—

संपादन : **मा. आनन्द प्रेम**

अनुवाद : **साधु राममूर्ति भारती**

गम्भीरता हमेशा अन्ताभिमुख होती है।

अगर आप कुछ पाने के लिए जीते हैं और नहीं पाते हैं तो जीवन अर्थहीन हो जाता है।

यह गम्भीरता है।

अर्थ अन्त में है। अभी और यहीं नहीं।

अन्त को पाना ही चाहिए।

अगर आप पाते हैं तो ठीक है।

अगर आप नहीं पाते हैं तो सबकुछ खो जाता है।

तो आप गम्भीर हैं क्योंकि

आपने कहीं शर्त रखी है।

और इस तरह जीवन के अर्थ से आपने तादात्म्य कर लिया है।

आप कभी भी कुछ पा नहीं सकते क्योंकि कुछ भी स्थिर नहीं है, सब कुछ परिवर्तनशील है।

आज आप कुछ चुन लेते हैं, कल कुछ भी वही नहीं रह जाएगा, ग्रह (तारे) भी नहीं।

सब कुछ पूरा का पूरा बदल गया होता है, मात्र मन में अन्त (लक्ष्य) रहता है।

कोई विशेष परिस्थिति में आपने इसकी योजना बनाई हो तो पूरी परिस्थिति बदल जाती है।

आप कभी पा नहीं सकते।

ठीक है तो फिर इतनी तैयारी क्यों?

आप कोशिश करते हैं, विचार करते हैं, योजना बनाते हैं, मेहनत करते हैं और फिर पाना तो होता नहीं।

आप वही चीज जो चाहते हैं फिर से कभी आती नहीं, आ नहीं सकती।

अगर जीवन गतिमान व प्रवाहित न होकर स्थिर व स्थाई होता तो आप कुछ पा सकते थे पर तब जीवन, मृत्यु हो जाता।

जीवन, – जीवन है क्योंकि वह गतिमान है, परिवर्तनशील है।

आप उसके बारे में भविष्यवाणी नहीं कर सकते।

इसलिए उसका अर्थ यह है कि वह गतिमान और प्रवाहित है, हमेशा पर किसी दिशा में नहीं।

अगर आप गम्भीर हैं तो आप प्रवाहित नहीं हो सकते।

तब आप भीतर बर्फ की तरह जम जाते हैं।

तब आप एक मृत पत्थर हो जाते हैं।

तब आपके चारों ओर प्रतिरोध होते हैं।

आप पिघल नहीं सकते।

जैसे जीवन बदलता है, परिवर्तित होता है वैसे आप नहीं हो सकते। उसके साथ आप अपने को परिवर्तित नहीं कर सकते या बदल नहीं सकते। आपके पास एक स्थाई रूप है। अब वही रूप प्रतिरोध बन जायेगा। तब संघर्ष शुरू होगा।

गम्भीरता से उत्पन्न होता है बर्फ की तरह जमना और उससे पैदा होता है संघर्ष। आप कुछ छोड़ नहीं सकते।

तो किसी भी रूप में रहने को राजी हो जाओ।

कोई भी रूप अच्छा है।

वृक्ष अच्छे हैं, कुत्ते अच्छे हैं और मनुष्य अच्छा है, किसी भी रूप में रहने को तैयार रहो। तब आप ज्यादा जियेंगे और तीव्रता से जियेंगे।

जब आपका किसी विशेष रूप से तादात्म्य हो जाता है तो तीव्रता (जीने की) तिरोहित हो जाती है।

तब आप छिछले होते हैं क्योंकि आप रूप से सम्बन्धित होते हैं, सत्ता (केन्द्र) से नहीं।

तब आप तनावग्रस्त हो जायेंगे, तीव्र नहीं।

अगर आप किसी भी रूप में रहने को राजी हैं तो आप पर कोई तरंग नहीं आती।

कोई उतार नहीं है, न कोई चढ़ाव है।

आप किसी भी रूप में रहने को तैयार हैं।

तब आप अन्तर्मुख होते हैं और सब के साथ प्रवाहित हो सकते हैं। और जितने ज्यादा प्रवाहित होते हैं आप, उतने ही आप जीवन्त होते हैं।

तो अगर आप जानते हैं, जीवन जरा भी गम्भीर नहीं है।

पर धार्मिक (!) लोगों ने उसे गम्भीर बनाया है इसलिए धार्मिक लोग जीवन-विरोधी हो जाते हैं।

पर मेरे माने वह जरा भी धर्म नहीं है।

वह अध्यात्म मात्र आत्महत्या के लिए है।

मेरे लिए धर्म का अर्थ है एक गैर-गम्भीर व्यवहार, बच्चों की भाँति बहुत निर्दोष।

गम्भीर व्यक्ति कभी निर्दोष नहीं हो सकता।

और जो निर्दोष हैं कभी गम्भीर नहीं हो सकते।

वे विरोधाभासी हैं। एक साथ नहीं टिक सकते।

एक बच्चा कभी गम्भीर नहीं होता पर तीव्र होता है।

सब में तीव्र होता है।

खेलते समय, क्रोध करते समय वह तीव्र होता है।

पर वृद्ध आदमी कभी तीव्र नहीं होता, वह गम्भीर होता है।

वह खेल को काम बना लेगा क्योंकि खेल युद्ध, संघर्ष और स्पर्धा बन जाएगा।

यह विषय है यह पराजय है और ऐसी नासमझियाँ आएंगी । वह मात्र खेल नहीं रह जाएगा ।

लेकिन तीव्रता कुछ और बात है ।

वह गम्भीरता नहीं है ।

और गम्भीरता के साथ दुख आता हीं है ।

आप गम्भीरता का मजा नहीं ले सकते । उसके साथ आप सुखी नहीं हो सकते, हँस नहीं सकते ।

संत कभी हँसे नहीं है । कहीं कोने में हमेशा दुख छिपा ही होना चाहिए ।

गम्भीरता दुख है, हँस नहीं सकती ।

और कभी हँसती है तो वह मात्र तनाव-मुक्ति-तन्त्र का हिस्सा होती है । तब हँसी निर्दोष नहीं होती है । वह मात्र तनाव से मुक्ति है ।

गम्भीर व्यक्ति हँस सकता है पर तब वह मात्र गम्भीरता के तनाव से मुक्ति है । तब फिर से वह गम्भीर होने के लिए तैयार होता है । तनाव इकट्ठे होते हैं ।

अगर मैं आपसे जोक (लतीफा) कहूँ तो मैं आपमें तनाव पैदा करता हूँ– अपेक्षा, कुतूहल ।

क्या होनेवाला है ?

बात कैसे बदलेगी ?

तो अपेक्षा के साथ आप तनावग्रस्त हो जाते हैं ।

आप गम्भीर हो जाते हैं और आपका मन काम शुरू देता है– अन्त क्या होने वाला है ? और जैसा आपने सोचा था वैसा अन्त हो तो आप हँसेंगे नहीं क्योंकि तब कोई तनाव मुक्ति नहीं ।

और अन्त जब बिल्कुल अकाल्पनिक हो, पूरा मोड़ ले, आप कभी सोच नहीं सकते कि यह अन्त हो सकता है तब तनाव जो कि चरम सीमा तक पहुँचा है, मुक्त होता है ।

आप हँसते हैं ।

वह हँसी निर्दोष नहीं है । क्योंकि वह हँसी तनाव से मुक्ति मात्र है ।

प्रत्येक जोक (लतीफे) को आप में तनाव पैदा करना जरूरी है । तब आप अपने को मुक्त अनुभव करते हैं ।

पर निर्दोष हँसी तो कुछ अलग ही है ।

वह मात्र तनाव-मुक्ति-तन्त्र नहीं है ।

वह जीने का एक ढंग है।
हँसी को एक जीने के ढंग की तरह लो।
हँसी हो जाओ।
आप बिल्कुल गैर-गम्भीर हो जाएंगे।
हो सकता है आप कुछ भी पा न सकें।
पर उपलब्धि (पाने) का मतलब क्या है?
जो पाता है वह भी क्या पाता है?
पाने में भी कुछ पाना नहीं होता।
पर पूरी अर्थहीनता यह है :
अगर आप कुछ पाते हैं, आप कुछ भी नहीं पाते, और कुछ भी नहीं टिकता।
बिना पाए वह मन बहुत पाता है जो कुछ पाना नहीं चाहता।
प्रत्येक क्षण में वह कुछ पाता है।
जो कुछ भी वह पाता है वह कुछ बहुत सुन्दर नहीं होगा।
अन्त में उसे कोई उपलब्धि भी न हो।
पर भीतर से वह समृद्ध होगा।
प्रत्येक क्षण ज्यादा समृद्धि से जिया गया।
उपलब्धि "होने" में है।
वह कोई बड़ा व्यक्ति या प्रतिष्ठित व्यक्ति या तो बड़ा वैज्ञानिक या चित्रकार भी न हो।
वह सच में **कोई भी न हो।**
पर वह शांति से मर सकता है, प्रेम पूर्वक मर सकता है।
वह भीतर से समृद्ध है।
जीवन जैसा था वैसा उसने बहुत दिया है।
कुछ भी छीना नहीं गया था।
कुछ भी संघर्ष से नहीं लिया गया था।
जीवन जैसा था वैसा उसने बहुत दिया है।
वह एक आशीर्वाद था।
वह एक सौन्दर्य था।
वह एक मंगल कामना था। क्यों कि वह बिना किसी शर्त के था।
जो मन कुछ पाने की कोशिश करता है, वह पूरे जीवन से, पूरे अस्तित्व से कहता है कि अगर "यह" हो तो ही मैं सुखी रह सकता हूँ।

व्यक्ति शर्त रख कर जीता है।

आप अस्तित्व के साथ शर्त रखकर नहीं जी सकते। आप कहीं भी कभी भी सुने नहीं जायेंगे।

अगर आप शर्त रखते हैं तो आप अस्तित्व से कभी कोई प्रतिध्वनि नहीं सुन पायेंगे।

आपकी ही शर्त आपके गले में पत्थर बन जाएगी।

आप अपने ही हाथों उसमें मर जाएंगे।

ऐसा नहीं कि अस्तित्व तुम्हें मार डालेगा, ऐसा कि आप अपने ही पत्थर से अपने को कुचल डालेंगे।

तब आप बाधा निर्मित करते हैं।

अस्तित्व आपसे बह नहीं सकता क्योंकि आपने शर्त रखी है।

आप अन्दर बुलाते हैं पर आपकी अपेक्षा पूरी करने की शर्त रखते है।

तो अस्तित्व आप में बह नहीं सकता।

आप उसमें बह नहीं सकते।

तब सब कुछ अपंग और रोगग्रस्त बन जाता है। तो अस्तित्व के साथ कोई शर्त न रखें, उससे सौदा न करें, स्पर्धा न करें और संघर्ष भी न करें तब आप "पवित्र" हो पायेंगे।

उसमें बहें और उसे आपमें बहने दें।

बेशर्त और निष्प्रयोजन क्रियाओं में।

तब आप गैर गम्भीर व तीव्र होंगे।

तब आप जिएंगे, पर आनन्द से।

तब दुख की कोई सम्भावना नहीं रह जाती।

तब कोई गहरा विषाद नहीं पकड़ता।

वह असम्भव है। कोई आप को विषाद से नहीं भर सकता। और जो भी होता है शुभ है। तब शुभ, अशुभ के विपरीत नहीं वरन् एक भावदशा रह जाती है। शुभ के विपरीत कुछ भी नहीं रह जाता – इसे मैं धार्मिक चित्त कहता हूँ : गैर – गम्भीर, निर्दोष और बिना संघर्ष का व हल्का।

किसी ने मुझे पत्र लिखा है। लिखते हैं कि किसी को मैंने भगवान माना था सतत पन्द्रह साल तक।

एक दिन उन्होंने उनको (भगवान को) क्रोध में देखा और तब से वे भगवान नहीं रहे और साधारण व्यक्ति हो गये, तब से : "मैं मान नहीं सकता

कि कोई व्यक्ति भगवान हो सकता है।" (उन्होंने कहा)

तो मैंने उनको लिखा कि दो सम्भावनाएं थीं।

या तो यह व्यक्ति भगवान नहीं था या तो भगवान की आपकी परिभाषा गलत थी।

पर नहीं आपकी परिभाषा गलत नहीं हो सकती, यह व्यक्ति ही गलत है!

परिभाषा, पन्द्रह वर्ष के विश्वास व श्रद्धा से ज्यादा बजनी है।

पर किसने कहा कि भगवान क्रोध नहीं कर सकते : किसने कहा?

हम जानते नहीं, पर हमारे पास परिभाषा है।

अलबत्ता, भगवान क्रोध करेंगे तो क्रोध दिव्य ढंग से करेंगे—वह अलग बात है।

पर हमारे पास परिभाषा है और जीवन हमेशा परिभाषाओं का अतिक्रमण कर जाता है।

इससे हम विषाद से भर जाते है।

मैंने उनको लिखा कि वह व्यक्ति बहुत प्रमाणिक होगा कि आपके सामने क्रोध कर पाया।

जिसने आपको भगवान माना है पन्द्रह साल से उसके सामने क्रोध न करना आसान बात है।

वह कठिन नहीं है। वे निष्कपट रहे, बहे और क्रोधित हो सके।

गुरू रिंझाई की मृत्यु हुई, उसके शिष्य ने रोना शुरू किया! एक लाख लोग दुखी हो गये क्योंकि यह शिष्य ज्ञानी माना जाता था : तो रो कैसे सकता था? उसे रोना नहीं चाहिए था।

अगर ज्ञानी रोता है तो फिर फर्क क्या रहा?

तो मित्र आकर समझाने लगे क्यों कि पूरी प्रतिमा (धारणा) खण्डित होती थी।

पर शिष्य ने कहा कि मैंने कब आपको वचन दिया था कि मै नहीं रोऊंगा? और क्या इस शर्त पर आपने मुझे ज्ञानी माना था कि मैं नहीं रोऊंगा? यह वचन कब दिया गया था।

तो दो बातें हैं— या तो आप मुझे ज्ञानी न मानें या फिर आपकी ("ज्ञानी" की) परिभाषा बदलें।

ज्ञानी रो सकता है—ज्ञानी की तरह।

सच में जो जीवन के साथ एक हो जीता है बहता है, वह बस होता है।

कोई प्रतिरोध नहीं – वह यह नहीं कहने वाला कि यह नहीं होना चाहिए। वह तो अस्तित्व हो गया है। उसने कहा है "हाँ।'

तो अगर हमारी परिभाषा के अनुसार द्वन्द्व, निन्दा और संघर्ष के नाम ज्ञानी व दिव्य पुरुषों की प्रतिमाएं बना रखी हैं, तो अगर महावीर हँसेंगे तो उनके शिष्य कहेंगे कि कुछ गड़बड़ है।

शिष्यों की मृत परिभाषा के कारण इसकी प्रतीति असम्भव है। और परिभाषा कभी जीवंत नही हो सकती।

क्योंकि जीवंत वस्तु बदलती रहती है और परिभाषाएं नही बदलतीं। और परिभाषा बदले तो वह परिभाषा न रही फिर।

वह स्थायी है और जीवन कभी भी स्थाई नहीं होता।

तो कभी विरोधों की भाषा में मत सोचें एक के बारे में ही सोचें: ताकि आप बह पाएं।

और कुछ होने दें, स्वीकार करें।

आप हार रहे हैं तो हारें, खो रहे हैं तो खोने दें, और अगर आप खोने या हारने को तैयार हैं तो कोई आपको हरा नहीं सकता। क्योंकि पूरी बात अर्थहीन हो जाती है। हारना अर्थपूर्ण है। क्योंकि जीत अर्थपूर्ण है। क्योंकि इनाम की, जीतने की शर्त है। तब हारना कठिन है – आप हारे हुए, विषाद अनुभव करते है।

मेरे लिये दिव्य अस्तित्व का अर्थ है सिर्फ बहना।

आप जीत जाएं तो भी अच्छा।

आप हारें तो भी अच्छा।

मुल्ला नसरुद्दीन के झूठे लतीफे

संकलन : मा योग लक्ष्मी

मुल्ला नसरुद्दीन रात डेढ़ बजे मकान मालिक के, दरवाजे पर पहुँचा दरवाजा खोलते हुए चिढ़े स्वर में मकान मालिक ने पूछा : "क्या बात है, नसरुद्दीन ?"

नसरुद्दीन ने कहा : "मैं यह कहने आया हूँ कि इस माह में किराया नही चुका पाऊँगा।"

"ओफ्फोह ! मगर यह बात तो तुम सुबह भी आकर कह सकते थे।"

"हाँ, पर मैं अकेला ही रात भर चिन्ता में जागूं, यह मुझे कुछ जँच नहीं रहा था।"

मुल्ला नसरुद्दीन अपनी कंजूसी के लिए प्रसिद्ध था ! गाँव के किसी व्यक्ति को उसने कभी चाय तक पर निमंत्रित नहीं किया था ! एक बार गाँव में खबर फैली कि मुल्ला एक बहुत बड़ा भोज देने वाला है : लोगों ने हँस कर बात टाल दी ! लेकिन एक व्यक्ति का मन न माना । उसने सोचा, पता तो लगाना चाहिए, शायद खबर सच ही हो ।

जब वह व्यक्ति मुल्ला के घर पहुँचा, तो उसे बाहर ही मुल्ला का नौकर

महमूद मिल गया । उसने पूछा : "क्यों भाई, हमने सुना है कि मुल्ला एक बहुत बड़ा भोज देने वाला है ?"

महमूद मुस्कुराया : "मुल्ला नसरूद्दीन ! निश्चय ही ! लेकिन प्रलय के दिन ।"

उस व्यक्ति के लौट जाने पर मुल्ला ने महमूद को बुलाया । वह उन दोनों की बातें सुन चुका था । उसने नौकर से पूछा : "क्यों बे हरामखोर, भोज का दिन निश्चित करने की क्या आवश्यकता थी ?"

—

अज्ञानी अज्ञानियों को मार्ग दिखाते रहते हैं ।

अज्ञान का लम्बा अनुभव ही जैसे उनके ज्ञानी होने का मज़बूत आधार बन जाता है ।

मुल्ला नसरूद्दीन अपने गाँव में सभी कुछ था । ज्ञानी, कवि, लेखक, दार्शनिक, धर्मगुरू, शिक्षक, वैद्य इत्यादि ।

एक क्षयरोग का रोगी उसके पास गया ।

मुल्ला ने उसकी परीक्षा करके कहा । "तुम्हारी बीमारी जल्दी ही अच्छी हो जाएगी । बस थोड़े दिन मेरी दवा करो ।"

रोगी ने प्रसन्न हो कर कहा : "मुल्ला, तब तो क्या कहना ! आपको तो इस बीमारी का अच्छा अनुभव है ।"

नसरूद्दीन यह सुन चमक कर बोला : "अनुभव के क्या मानी ? अरे भाई ! मुझे खुद ही पच्चीस बरस से यह बीमारी है !"

—

"यह बड़ा अच्छा समय है घर आने का," पत्नी मुल्ला नसरूद्दीन के रात के दो बजे आने पर बिगड़ी । "जल्दी मुझे इसकी सफाई दो और सच सच बताना ।"

"तुम एक बात पहले तय कर लो," नसरुद्दीन बोला, "सफाई चाहिए या सच बात ?"

—

मुल्ला नसरूद्दीन एक भोजनालय में गया और उसने खाने के लिए खीर मगवाई । नौकर ने जैसे ही खीर लाकर उसके सामने रखी कि वह तुनक कर बोला : "मैं यह खीर नहीं खा सकता ।"

नौकर सटपटा गया और घबराया हुआ बोला : "क्षमा करें श्रीमान्, मैं अभी प्रबन्धक को बुलाता हूँ ।"

प्रबन्धक के आते ही मुल्ला ने सामने रखी खीर की ओर इशारा करते हुए कहा : "मैं यह खीर नहीं खा सकता ।"

प्रबन्धक ने तपाक से कहा : "मै अभी पता करता हूँ कि क्या बात है ।" फिर नौकर की ओर मुड़ कर कहा : "जाओ, फौरन रसोइये को बुला कर लाओ ।"

रसोइये से भी नसरूद्दीन ने उसी स्वर में कहा : "मैं यह खीर नहीं खा सकता ।"

"लेकिन जनाब, इसमें खराबी क्या है ?" रसोइये ने पूछा ।

"कुछ नहीं ।" मुल्ला सरलता से बोला । "लेकिन इसे खाने के लिए चमचा तो है ही नहीं ।"

मुल्ला नसरूद्दीन स्थानीय पुलिस स्टेशन में घुसा । "मेरी पत्नी गायब हो गई है" उसने बतलाया ।

"अंतिम बार आपने उसे कब देखा था ?"

"तीन महिने पहले ।"

"आपकी पत्नी को खोये तीन महीने हो गए हैं और आप आज रिपोर्ट लिखाने आए है ?"

"बात यह है" नसरूद्दीन बोला, "कि आज तक मुझे इस बात पर विश्वास करने का साहस ही नहीं हो रहा था ।"

दिन गीला था और मुल्ला नसरूद्दीन की दोनों लड़कियाँ बाहर जाकर खेलना चाहती थीं । मुल्ला ने उनसे कहा : "मेरी और से तुम्हे हाँ है । पर यदि तुम बाहर जाना ही चाहती हो तो माँ के पास जाकर कहना कि पिताजी मना कर रहे हैं ।"

चुनाव का दिन निकट आ गया था और मुल्ला नसरूद्दीन की पत्नी का नाम मतदाताओं की फेहरिस्त में नहीं निकला तो वह बहुत भिन्नाई । मुल्ला ने उसे बहुत समझाया, पर उसने एक न मानी तो मुल्ला को उसे लेकर

बड़े चुनाव-अधिकारी के पास जाना ही पड़ा । चुनाव-अधिकारी ने जाँच पड़ताल की और कहा : "माफ कीजियेगा, पर आपका नाम तो सरकारी फेहरिस्त में मरे हुए व्यक्तियों की सूची में है ।"

"क्या ?" मुल्ला की पत्नी चीखी, "मैं इतती बड़ी जिन्दा खड़ी हूँ और–'

तभी नसरूद्दीन ने अपनी पत्नी को डाँटा और कहा : "क्या जबान लड़ा रही हो, इतने बड़े अधिकारी क्या झूठ बोलेंगे ।"

एक पार्टी में मुल्ला नसरूद्दीन की भेंट मनोविज्ञान के एक प्रसिद्ध पंडित से हुई । मुल्ला ने उस मनोवैज्ञानिक से पूछा : "प्रोफेसर साहब, यह बताइए कि किसी की बुद्धि की परीक्षा कैसे ली जाती है ? देखिए, कोई आसान सा तरीका बताइए ।"

"आप उससे एक सीधा-सादा सवाल पूछ लीजिए, यदि वह फौरन जवाब न दे सके तो समझ लीजिए उसमें अक्ल की कभी है ।"

"किस प्रकार का प्रश्न ?" मुल्ला ने पूछा ।

"जैसे आप पूछ सकते सैं कि कर्नल बर्ड ने तीन बार हवाई जहाज से पृथ्वी की बिना कहीं रूके परिक्रमाएं कीं और उनमें से एक में वह मारा गया,

मुल्ला कुछ देर खामोश रहा और फिर बड़ी झिझक के साथ बोला : "सच कहें तो प्रोफेसर साहब, मुझे खुद ही नहीं मालूम कि कर्नल बर्ड किस उड़ान में मारा गया । फिर इतिहास का ज्ञान हुए बिना यह मालूम भी कैसे हो सकता है ?"

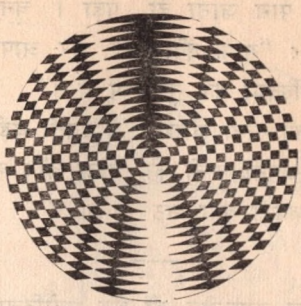

आइये, लाओत्से से पूछें....

संकलन : **स्वामी आनंद मैत्रेय**

प्रश्नकर्ता : भगवान श्री, कृपया यह बतलाएं कि क्या लाओत्से के वे सारे उपदेश पराजित जीवन के लिए, हारे हुए व्यक्ति के लिए नहीं हैं? क्या इन उपदेशों के मूल में एक प्रकार की निषेधात्मक वृत्ति या पलायनवादिता नहीं है ? तथाता या स्वीकृति की इस नीति से क्या शोषण के तन्त्र को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा ? और अन्त में, क्या इन उपदेशों को केवल कोरी सैद्धान्तिक आदर्शवादिता नहीं कह सकते ? एक तो व्यावहारिक नहीं है यह । और न इसमें काम से मुक्त होने का या अमूर्छित होने का उपाय ही बताया गया है ।

भगवान श्री : लाओत्से उपाय में विश्वास नहीं करता है । क्योंकि लाओत्से कहता है कि उपाय तो वासना के ही होते हैं । **निर्वासना का कोई उपाय नहीं है** । उपाय का मतलब होता है, कहीं पहुंचने के लिए की गई कोई क्रिया । मार्ग का मतलब होता है, किसी मंजिल को जोड़नेवाली व्यवस्था कोई सेतु, साधन ।

लाओत्से कहता है कि वासना के लिए ही उपाय की जरूरत है, मार्ग की जरूरत है, दौड़ने की जरूरत है, श्रम की जरूरत है, प्रयत्न की जरूरत है। निर्वासना के लिए तो समझ, अंडरस्टैंडिंग भर काफी है। निर्वासना के लिए समझ काफी है। कोई उपाय आवश्यक नहीं है — लाओत्से के लिए। और जो भी समझता है पूरी बात को, उसके लिए भी कोई उपाय आवश्यक नहीं

है। सब उपाय नासमझों के लिए दिए गए खिलौने हैं, धीरे-धीरे छोड़ने की व्यवस्था हैं। इकट्ठा हम न छोड़ सकेंगे, इसलिए धीरे-धीरे छुड़ाने का आयोजन है ।

लाओत्से तो कहता है : केवल अंडरस्टैंडिंग, समझ, प्रज्ञा ! अगर ख्याल में आ जाए मन का यह जाल, तो आप उसी क्षण बाहर हो जाएंगे, ख्याल में आने से ही । किसी और उपाय की जरूरत नहीं है । मुझे यह समझ में आ जाए कि यह जहर है, तो उसका प्याला मेरे हाथ से छूट जाएगा। इस प्याले को छुड़ाने के लिए मुझे कोई कसरत करने की जरूरत नहीं होगी । मुझे समझ में आ जाए कि आग जलाती है, तो यह हाथ आग की तरफ जाने से रुक जाएगा। इसे रोकने के लिए मुझे दो-चार पहलवान लगाने की जरूरत नहीं होगी –

उपाय तो तब करने पड़ते हैं, जब समझ न हो । समझ हो, तो उपाय की जरूरत नहीं है । इसलिए दो मार्ग हैं। एक मार्ग है उपाय का, नासमझी का । नासमझ आदमी कहता है, समझ तो मेरी नहीं है, कोई उपाय बता दें, जिससे मैं समझ की कभी पूरी कर दूं । कोई तरकीब, कोई टेकनीक, कोई मेथड । नासमझी भी उपाय मांगती है, बिना उपाय के वह नहीं जी सकती । समझदारी के लिए किसी उपाय की जरूरत नहीं है । बात समझ में आ गई और बात समाप्त हो गई । समझ लेना काफी है । उसका कारण है ।

लाओत्से जैसे लोगों का ख्याल है कि हम वस्तुतः बंधे हुए नहीं हैं, हमें बंधे होने का सिर्फ ख्याल है । हम बीमार नहीं हैं, केवल अज्ञानी हैं । दो बातें हैं ।

एक आदमी बीमार है, सच में बीमार है । वास्तविक बीमारी उसकी छाती को पकड़े हुए है । तब तो दवा की जरूरत पड़ेगी ही । उपाय आवश्यक होगा । लेकिन एक आदमी है, जो बीमार बिलकुल नहीं है, सिर्फ वहम है उसे कि वह बीमार है। जब दवा देना महंगा और खतरनाक भी हो सकता है । क्योंकि दवा तब नई बीमारी बन सकती है । इस आदमी को तो सिर्फ समझ चाहिए कि वह बीमार नहीं है । और अगर इसे दवा ही देनी पड़े कभी, तो शक्कर की गोलियां ही देनी पड़ेंगी, पानी ही पिलाना पड़ेगा । वह सब धोखा ही होनेवाला है दवा का, वह दवा होनेवाली नहीं है । लाओत्से का ख्याल है और ठीक ख्याल है कि जीवन की **जो कठिनाई है, वह अज्ञान की कठिनाई है** वह वास्तविक कठिनाई नहीं है ?

हम सच में ही परमात्मा से दूर नहीं हो गए हैं, सिर्फ हमें ख्याल है। हम सच में ही अपने जीवन के बाहर चले नहीं गए हैं, चले जाने का हमें सिर्फ ख्याल है । हमने जीवन की सम्पदा को खोया नहीं है, हम सिर्फ भूल गए हैं । अगर यह बात है, तो लाओत्से कहता है कि उपाय की क्या जरूरत है ? उपाय का कोई सवाल ही नहीं । समझ पर्याप्त होगी । **समझ ही उपाय है।**

बुद्ध ने कहीं कहा है, जो नहीं समझते, उन्हें मैंने विधियां दी हैं । और जो समझते हैं, उन्हें मैंने समझ दी है । जो नहीं समझते, उन्हें मैंने उपाय दिए हैं कि तुम ऐसा-ऐसा करो, तो हो जाएगा । जो समझते हैं, उन्हें मैंने समझा दिया है । बात समाप्त हो गई । करीब-करीब यह ऐसा है जैसा कि मनोवैज्ञानिक के कोच पर सैकड़ों मरीज रोज आते है, जिन्हें कोई बीमारी नहीं होती। पर इससे कोई फर्क नहीं पड़ता । बीमार तो वे हैं ही । बीमारी कोई नहीं है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता । बीमार तो वे हैं ही । असली बीमार से भी ज्यादा बीमार ! और बीमारी बिलकुल नहीं है । सिर्फ वहम है, सिर्फ ख्याल है कि बीमारी है । उनका भी इलाज करना पड़ता है । इलाज क्या है ? फ्रायड या जुंग क्या करते रहे ? कुछ भी नहीं। मरीज से वर्षों तक उसकी बीमारी को उघाड़ कर बात करते रहे । इस बातचीत के दौरान अगर समझ पैदा हो जाए, तो आदमी बीमारी के बाहर हो सकता है। और अगर समझ पैदा न हो, तो आदमी बीमारी के भीतर रहता है ।

जीवन की समस्या वास्तविक बीमारी की समस्या नहीं है। जीवन की समस्या एक भ्रान्त, सूडो बीमारी की समस्या है । इसलिए लाओत्से उपाय की बात नहीं करता है । वह कहता है, निरुपाय हो रहो ! बस, यही उपाय है । जान लो, समझ लो और ठहर जाओ, बस यही उपाय है ।

लाओत्से की बात किसी हताशा, किसी पराजय की बात भी नहीं है । यह बहुत मजे की बात है । इसे समझना चाहिए । यह बात मन में उठती है । लाओत्से जैसे व्यक्तियों की बात सुनकर ऐसा लगता है कि वह एस्केपिस्ट है, पलायनवादी है । कहते हैं, कुछ चाहो मत । नहीं चाहेंगे, तो बढ़ेंगे कैसे ? यद्यपि चाह कर कितने बढ़ गए हैं, इसका कोई हिसाब रखा है ? चाह कर कितने बढ़ गए हैं ?

अल्डुअस हक्सले से कोई पूछ रहा था कि आपकी तीन-तीन पीढ़ियां--हक्सले परिवार की तीन पीढ़ियां प्रोग्रेस और प्रगति के पक्ष में काम करती

रहीं, पर दादा से लेकर तीन पुश्त मनुष्य जाति की प्रगति हो, इस पर काम करती रहीं – तो हक्सले से किसी ने पूछा है कि आपकी तीन पीढ़ियों ने काम किया है मनुष्य की प्रगति के लिए । आपसे हम लेखा चाहते हैं, ब्योरा चाहते हैं इस बात का कि क्या आप यह कह सकते हैं कि आदमी आज से पांच हजार साल पहले जैसा था, उससे आज ज्यादा सुखी है, ज्यादा शांत है, ज्यादा आनन्दित है ? अल्डुअस हक्सले ने कहा कि अगर मेरे परदादा से पूछा होता, तो वे थोड़ा झिझकते । **मैं उत्तर ही नहीं दे सकता । नहीं, आदमी सुखी भी नहीं हुआ, शांत भी नहीं हुआ, आनन्दित भी नहीं हुआ । और प्रगति काफी हो गई है ।** प्रगति कम न हुई, प्रगति काफी हो गई है ।

लाओत्से की बात से यह ख्याल उठता है कि प्रगति रुक जाएगी । लेकिन आदमी प्रगति के लिए है क्या ? या कि प्रगति आदमी के लिए है ?

अगर आदमी प्रगति के लिए है, तो ठीक है, आदमी की कुर्बानी हो जाए। कोई चिन्ता नहीं । प्रगति होनी चाहिए । आदमी मर जाए, तो मर जाए, लेकिन रास्ते पर दस मील प्रति घंटे की रफ्तार से चलने वाले वाहन हट जाने चाहिए, हजार मील रफ्तार वाले वाहन आ जाने चाहिए । कोई फिक्र नहीं कि रास्ते पर आदमी बचे कि न बचे । चांद-तारों पर पहुंचना चाहिए, कोई फिक्र नहीं कि पहुंचानेवाला बचे कि न बचे । अगर प्रगति ही लक्ष्य है, तब तो लाओत्से की बात गलत है । लेकिन **अगर आदमी, उसका आनन्द, उसके जीवन का रस लक्ष्य है,** तो लाओत्से की बात सही है । सच तो यह है कि वासना से दौड़ भला कितनी ही हो जाए, पहुंचना सिर्फ नहीं होता है।

ध्यान रखना, दौड़ लिये, इसका मतलब यह नहीं कि पहुंच गए । दौड़ने मात्र से कोई पहुंच नहीं जाता है । लेकिन तर्क ऐसा कहता है मन का कि नहीं दौड़ेंगे, तो नहीं पहुंचेंगे । दौडेंगे, तभी पहुंचेंगे । लाओत्से कहता है कि **जीवन की जो परम सम्पदा है, वह ठहरने और खड़े होने से दिखाई पड़ती है, दौड़ने से दिखाई नहीं पड़ती है ।** और ऐसा लाओत्से अकेला नहीं कहता है । ऐसा बुद्ध भी कहते हैं, महावीर भी कहते हैं, पतंजलि भी कहते हैं । इस जगत में जिन लोगों ने भी जाना है, वे सभी कहते हैं । अगर ऐसा है, तो सब ज्ञानी पलायनवादी और सब अज्ञानी प्रगतिवादी हैं । एक भी ज्ञानी लाओत्से से भिन्न नहीं कहेगा ।

फिर यह भी बड़े मजे की बात है कि ये सभी अज्ञानी, जो प्रगति करते हैं, घूम कर आज नहीं किसी-न-किसी दिन किसी लाओत्से के चरणों में

जाते हैं कि शांति चाहिए । लाओत्से कभी किसी अज्ञानी के चरणों में नहीं गया कि प्रगति चाहिए । प्रगतिवादी सदा ही किसी दिन पलायनवादी के चरणों में बैठ जाता है कि मुझे शांति दें । वह पलायनवादी कभी किसी प्रगतिवादी से पूछने नहीं जाता कि तुम्हें बड़ा आनन्द मिल गया, थोड़ा आनन्द मुझे भी दे दो । निरपवाद रूप से ऐसा क्यों होता है ? लाओत्से के पास भी आंखें हैं, बुद्ध के पास भी आंखें हैं । उनको भी तो दिखाई पड़ेगा कि प्रगतिवादी आगे पहुंच गए और हम भटक गए हैं । लेकिन ऐसा कभी नहीं होता कि बुद्ध आएं उनसे पूछने । प्रगतिवादी आता है लौट कर पूछने कि मेरा मन बड़ा अशान्त है, बड़ा पीड़ित है, बड़ा परेशान है ।

नहीं, पलायन यह नहीं है। स्थिति कुछ ऐसी है। शब्द से कुछ खतरा नहीं है, लेकिन शब्द के कनोटेशन से है। घर में आग लगी है और अगर हम घर के बाहर भागने लगें और आप कहें कि तुम पलायनवादी हो, भागते हो घर के बाहर, तो एक अर्थ में, शाब्दिक अर्थ में तो ठीक ही है, यह पलायन है। छोड़ रहा हूं घर; जहां आग लगी है, उससे हट रहा हूं । लेकिन आग लगे घर में रहना समझदारी नहीं है। आग लगे घर में रहना अगर समझदारी है, तो फिर हार्न बजा रहा हो कोई ट्रक, तो उसके सामने खड़ा रहना बहादुरी है। जो हटता है हार्न से, वह एस्केपिस्ट है, भाग रहा है। यह तो अवसर है परीक्षा का, जब हार्न बज रहा हो ट्रक का, तब खड़े रहो वहीं। हिम्मत खो रहे हो, साहस कम कर रहे हो ! नहीं, अगर हम जीवन की स्थिति को ठीक से समझें, तो लाओत्से जीवन से नहीं भाग रहा, लाओत्से, सिर्फ जीवन की मूढ़ता से हट रहा है। लाओत्से सिर्फ आग से हट रहा है बीमारी से हट रहा है । **जीवन में तो गहरे जा रहा है।** और हम जो समझ रहे हैं कि हम जीवन में आगे बढ़ रहे हैं, हम सिर्फ निपट मूढ़ता में आगे बढ़ते चले जा रहे हैं । और जीवन से वंचित होते चले जा रहे हैं।

अन्तिम कसौटी क्या है ? लाओत्से की शक्ल और हमारी शक्ल को मिलाना चाहिए। लाओत्से मरते वक्त भी चिन्तित नहीं है और हम जीते वक्त भी चिन्तित हैं। लाओत्से मौत को भी आलिंगन करने में आनन्दित है, हम जीवन को भी कभी आलिंगन नहीं कर पाते। लाओत्से बीमारी में भी हंसता है, हम स्वस्थ होकर भी रोते रहते हैं। कसौटी क्या है ? लाओत्से के हाथों में कांटे भी रख दो, तो वह अनुग्रहीत हो जाएगा। और हमारे हाथमें कोई फल भी रख जाए, तो भी धन्यवाद का भाव नहीं उठता। नहीं,

क्या है मार्ग, जिसे हम पहचानें? कौन-सा है मापदण्ड? लाओत्से पलायनवादी नहीं है।

और अगर लाओत्से पलायनवादी है, तो सभी को पलायनवादी होना चाहिए। फिर पलायनवाद धर्म है। क्योंकि लाओत्से व्यर्थ से पलायन करके जीवन की सार्थकता और सार में प्रवेश करता है।

ऐसा लगता है कि इसमें हताशा है, निराशा है। जीवन से भयभीत हो गया क्या? लड़ने की सामर्थ्य नहीं है क्या? शायद इसलिए हट रहा हो कि कमजोर है। लेकिन कमजोरी का भी लक्षण लाओत्से नहीं देता। कमजोरी का जरा भी लक्षण नहीं देता। बुद्ध और लाओत्से और क्राइस्ट जैसे लोग जितनी सबलता का लक्षण देते हैं, उतनी सबलता का लक्षण कोई नहीं देता।

और जिनको हम प्रगतिवादी कहते हैं, वे धीरे-धीरे सबके सब नरवस होते चले जाते हैं। सबके हाथ-पैर कांपने लगते हैं। और सबका स्नायु-मंडल गड़बड़ होता जाता है। और सबकी छाती में हजार तरह के भय प्रवेश कर जाते हैं। आज अमरीका के मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि मुश्किल से दस प्रतिशत लोग हैं, जिन्हें हम मानसिक रूप से स्वस्थ कह सकते हैं। नब्बे प्रतिशत लोग बीमार हैं। और इन दस प्रतिशत का कभी हिसाब लगाने जाएं, तो इस दस प्रतिशत में गैर-पढ़े लिखे लोग, ग्रामीण, जंगल में रहनेवाले लोग, मज़दूर, नीचे वर्ग के लोग मिलेंगे। जितनी ऊपर वर्ग की दुनिया है, जितने जो लोग प्रगति कर गए हैं, उतना ही आंकड़ा बड़ा होता चला जाता है। बात क्या है?

लाओत्से जैसी गहरी नींद तो कोई प्रगतिवादी कभी नहीं सो सकता, न लाओत्से जैसा आनन्द से भोजन ही कर सकता है। न लाओत्से जैसी पाचन की क्षमता है उसकी। न लाओत्से जैसा स्वास्थ्य है, न लाओत्से जैसी निर्भयता है। न लाओत्से जैसा मौन है, न यह जो बहती हुई आनन्द की सतत धारा है लाओत्से में। यह धारा निराशा की खबर नहीं देती है, हताशा की खबर नहीं देती है।

वह आदमी हारा हुआ भी नहीं है। लाओत्से तो कहता है यह कि मुझे कभी कोई हरा नहीं सका। और कोई पूछने गया कि क्यों नहीं हरा सका? तो लाओत्से ने कहा कि **मैंने कभी किसी को जीतना ही नहीं चाहा।** । हार तो तभी सकता हूं, जब किसी को जीतना चाहूं। मुझे हराओगे तो तभी, जब मैं जीतने को निकलूं। मैं किली को जीतने न निकला। हमें लगेगा कि शायद लाओत्से इसलिए जीतने नही निकला कि लड़ने से डरता था। और लाओत्से कहता है,

जीतने इसलिए मैं नहीं निकला कि तुम्हारी दुनिया में जीतने योग्य कुछ था भी नहीं। कुछ दीखा ही नहीं कि जीतने योग्य हो। इन क्षुद्र चीजों को, जिनके लिए तुम जीतने जाते हो, मैंने जीतने योग्य न समझा। और इन क्षुद्र चीजों के लिए हारने का व्यर्थ का उपद्रव क्या खड़ा करना? क्योंकि जीतने निकलोगे, तो हारोगे। जीत जाओ, तो भी कुछ नहीं मिलता। और व्यर्थ हार जाओ, तो बेचैनी और परेशानी सिर पर आ जाती है। मैं जीतने ही न गया। **इसलिए नहीं कि हारने से डरता था, बल्कि इसलिए कि जीतने योग्य कुछ था ही नहीं।**

यह जो हमारे मन में सवाल उठता है, बिलकुल स्वाभाविक है। हमें लगता है कि यह तो एक पेसीमिस्ट का, दुखवादी का दृष्टिकोण है। लेकिन दुखवादी को दुखी होना चाहिए न। तो बड़ी उलटी बात है कि दुखवादी दुखी नहीं मालूम पड़ता। और हम सुखवादी दुखी मालूम पड़ते हैं। सारे पश्चिम में जब पहली दफा बुद्ध के ग्रन्थों का अनुवाद हुआ, तब उन्होंने कहा कि यह पेसिमिस्ट है—पार-एक्सलेंस। आखिरी दम का दुखवादी है बुद्ध। क्योंकि कहता है: जन्म दुख है, जीवन दुख है, जरा दुख है, मरण दुख है, सब दुख है। यह दुखवादी है। लेकिन उनमें से किसी ने न सोचा कि इसके चेहरे की तरफ तो देखो। यह दुखवादी है तुम सुखवादी हो! तो तुम्हारे चेहरे पर सुख की कोई छाप होनी चाहिए। तुम्हारे चेहरे पर सुख का कोई इशारा नहीं दिखाई पड़ता। और यह आदमी जो कहता है कि जन्म दुख है, जीवन दुख है, सब दुख है, इसके आनन्द का कोई पारावार नहीं है।

तो जरूर कहीं कोई भूल हो रही है।

बुद्ध कहते हैं कि जीवन दुख है, इसे जो जान ले, वही आनन्द को उपलब्ध होता है। जो समझें कि जीवन सुख है, वह सिर्फ दुख को उपलब्ध होता है। ठीक है यह गणित बुद्ध का, बहुत गहरा है। बुद्ध और लाओत्से कहते हैं **कि जो जीवन को सुख समझ कर चलेगा, वह दुख पाएगा। क्योंकि जीवन दुख है।** अगर मैं कांटे को फूल मानकर चलूंगा, तो कांटा चुभेगा और दुख पाऊंगा। क्योंकि कांटा है, फूल नहीं है। लेकिन अगर मैं कांटे को कांटा मानकर चलूं, तो फिर कांटा मुझे दुख नहीं दे सकता। कांटा दुख देने की तरकीब करता है, 'फूल जैसा दिखाई पड़ता है, तब दुख दे पाता है। बुद्ध कहते हैं, जीवन दुख है, इसे जान लो। फिर तुमसे तुम्हारे सुख को कोई न छीन सकेगा। और अगर तुमने जीवन को सुख जाना, तो फिर तुम दुख में पड़ोगे, क्योंकि तुमने भ्रान्ति का सिलसिला शुरू किया।

लाओत्से दुखवादी नहीं है। लाओत्से परम आनन्दवादी है। परम आनन्द की जितनी उत्कृष्ट चरमता हो सकती है, आत्यंतिकता हो सकती है, **लाओत्से वह आत्यंतिक आनन्दवादी है।**

लाओत्से का एक मुख्य और प्रसिद्ध शिष्य च्वांगत्से हुआ है। च्वांगत्से को चीन के सम्राट ने निमंत्रण भेजा कि तुम आओ और मेरे बड़े वजीर बन जाओ। च्वांगत्से ने खबर भेजी कि मैं जितने सुख में हूं, उसके ऊपर कोई सुख नहीं है। तो वजीर बनाकर तुम मुझे नीचे ही उतार पाओगे। क्योंकि इसके आगे तो कोई आनन्द है नहीं। अब तो कहीं बढ़ना, पीछे हटना है। च्वांगत्से ने कहा, कहीं भी बढ़ना पीछे हटना है। अब तो इंच भर सरकना खोना है; क्योंकि जहां मैं हूं, उससे बड़ा, उससे परम आनन्द कोई नहीं है।

आपको लगेगा कि वजीर बनने का मौका मिलता है, वह पागल है। खुद सम्राट उसे बुलाता है। यहां तो एक-एक वोटर के पास जाना पड़ता है। पागल है बिलकुल, चुपचाप चले जाना था। ऐसा मौका नहीं खोना था। लेकिन च्वांगत्से की समझ उसे कुछ और कहती है। च्वांगत्से की समझ यह कहती है कि मैं जिस परम आनन्द में हूं, वहां से जरा भी हिला तो तुम मुझे नीचे ही उतार लोगे। इसके आगे और कोई गति नहीं है। तुम संभालो।

लाओत्से या च्वांगत्से या कोई और **तथाता** की जब बात कहते हैं, एक्सेप्टिबिलिटी की कि सब कर लो स्वीकार, तब इसलिए नहीं कि किसी विषाद से, किसी फ्रस्ट्रेशन से, किसी संताप से कहते हैं। इसलिए भी नहीं कि जीवन में सन्तोष रखना बड़ी अच्छी बात है। इसलिए नहीं। स्वीकार का भाव दो कारणों से हो सकता है। एक तो इसलिए आदमी स्वीकार कर ले कि अब कोई उपाय नहीं, तो अब स्वीकार ही कर लो! इसमें कम से कम कंसोलेशन, सांत्वना तोरहेगी। नहीं, लाओत्से की एक्सेप्टिबिलिटी, तथाता का यह अर्थ नहीं है।

लाओत्से यह कह रहा है कि जो आदमी यह कहता है कि स्वीकार करने से सन्तोष रहेगा, वह आदमी अभी भी अस्वीकार कर रहा है। समझ लेना चाहिए, वह अभी भी अस्वीकार कर रहा है। **क्योंकि अस्वीकार न हो, तो असंतोष कैसा?** मैं कहता हूं कि मेरे पैर में कांटा गड़ा है, अब स्वीकार ही कर लूं, तो कम से कम सन्तोष रहेगा कि ठीक है, गड गया है। पीड़ा हो रही है, स्वीकार कर लूं। लेकिन इस स्वीकृति में अस्वीकार छिपा हुआ है। सच तो यह है कि मेरी स्वीकृति अस्वीकार का ही एक ढंग है। पीड़ा तो मुझे हो रही है, दुख तो मुझे हो रहा है। जब कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ता है, तब मैं आंख बन्द करके कहता हूं कि ठीक

है। इसमें भी परमात्मा का कोई राज होगा। कोई रहस्य होगा। अभिशाप में भी वरदान छिपा होगा। काले बादलों के भीतर भी सफेद चमकती हुई बिजली छिपी रहती है। इन कांटों के भीतर भी फूल रहता है। दुख में भी सुख छिपे रहते हैं। लेकिन मेरी खोज सुख की है, उस सफेद बिजली की रेखा के लिए मेरी खोज है। काले बादल के लिए मेरी कोई स्वीकृति नहीं है। और जब रात बहुत अंधेरी हो जाती है, तब सुबह बहुत करीब होती है। मगर मेरी आकांक्षा सुबह के लिए ही है। काली रात से अपने को समझाने के लिए मैं कहता रहा हूं कि कोई हर्ज नहीं, रात बहुत काली हो गई, अब सुबह, भोर करीब होगी। मेरी इच्छा भोर के लिए है। रात के कालेपन को, भोर की इच्छा के सामने रखकर, थोड़ा हलका कर रहा हूं। सन्तोष कर रहा हूं।

लेकिन, लाओत्से इस तथाता की बात नहीं करता है। लाओत्से कहता है: इसलिए नहीं स्वीकृति कि संतोष चाहिए; **बल्कि इसलिए कि अस्वीकृति मूढता है।** अस्वीकृति से सिवाय आदमी अपने को निरंतर नर्क में डालने के और कहीं नहीं ले जाता है। लाओत्से का जोर स्वीकृति पर कम है, अस्वीकृति की समझ पर ज्यादा है। जिस दिन मैं अस्वीकृति को समझ लूंगा पूरा कि मैं अपने हाथ से नर्क पैदा कर रहा हूं, उस दिन अस्वीकृति विदा हो जाएगी। **और जो शेष** रह **जाएगी** वह स्वीकृति होगी। इस तर्क को समझ लें।

एक तो ऐसी स्वीकृति है, जिसे अस्वीकृति के खिलाफ हम खड़ा करते हैं, इंपोज करते हैं। और एक ऐसी स्वीकृति है, जो अस्वीकृति के तिरोहित हो जाने पर पायी जाती है। इन दोनों में फर्क है। जब अस्वीकृति भीतर होती है और स्वीकृति को हम बाहर से खड़ा करते हैं, तब द्वन्द्व निर्मित होता है। भीतर अस्वीकार होता है, बाहर स्वीकार होता है। मित्र मेरा चल बसा, तो मैं कहता हूं, ठीक है, स्वीकार ही करना पड़ेगा। कोई उपाय नहीं। तो अपने मन को समझाता हूं कि सभी को जाना पड़ता है, मृत्यु तो सभी की होती है, मृत्यु तो होगी ही। कौन इस दुनिया में सदा रहने को आया है? यह सब मैं अपने को समझाता-बुझाता हूं। लेकिन भीतर टीस गड़ती रहती है। मित्र चला गया, उसका खालीपन अखरता रहता है। भीतर मन कहता है, बुरा हुआ, नहीं होना था। और बाहर मन को मैं समझाता हूं कि यह तो होता ही रहता है। होता ही रहा है। इससे बचा नहीं जा सकता है। ये दोनों बातें साथ चलती रहती हैं। ऊपर की कोशिश से यह मैं मरहमपट्टी कर रहा हूं। घाव भीतर बना ही रहता है।

लाओत्से इस तरह की स्वीकृति या तथाता के लिए नहीं कह रहा है।

लाओत्से कह रहा है कि मैं यह नहीं कहता कि मैं दुखी हूं मेरे मित्र के मर जाने से। मैं तो सिर्फ आश्चर्य-चकित हूं कि इतने दिन जिये कैसे? **जीवन बड़ी असंभव घटना है। मौत बड़ी सहज घटना है। मौत को आश्चर्य नहीं कहा जा सकता, लेकिन जीवन आश्चर्य है। है यह आश्चर्य।**

लाओत्से कहेगा कि इतने दिन जिये कैसे, आश्चर्य है!

च्वांगत्से का मैंने अभी नाम लिया। च्वांगत्से की पत्नी मर गई। सम्राट गया सान्त्वना देने, तो वह खंजड़ी बजा रहा था अपने द्वार पर बैठ कर। सुबह पत्नी को विदा किया, बारह बजे खंजड़ी बजा रहा था। पैर फैलाए हुए था, गीत गा रहा था। सम्राट थोड़ा झिझका। वह तो ऐसे तैयार होकर आया था, जैसे किसी के घर कोई मर जाता है, तो लोग तैयार होकर आते हैं कि क्या कहना है, क्या पूछना है? सब तैयार होकर, रिहर्सल दो दफे घर में करके आते हैं। क्या कहेंगे? क्या उत्तर देगा? और क्या जवाब होगा? सब पक्का ही है। और जो दो-चार अनुभवी हैं, दो-चार को विदा कर चुके हैं, वे तो पक्के ही हैं। उनको तो कोई जरूरत ही नहीं है कोई डायलाग याद करने की। बिलकुल याद हैं। तो तैयार होकर सम्राट आया कि ऐसा-ऐसा दुःख प्रकट करेंगे, ऐसा-ऐसा भाव बताएंगे। इधर देखा, तो हालत ही उलटी थी। यहां पुराने डायलाग का उपाय नहीं था। च्वांगत्से खंजड़ी बजा रहा था। और बड़ा आनंदित!

सम्राट से न रहा गया। उसने कहा, च्वांगत्से, दुख न मनाओ, इतना काफी है। कम से कम खंजड़ी तो मत बजाओ। बहुत है इतना ही, बहुत है कि दुख न मनाओ। लेकिन, यह खंजड़ी?

च्वांगत्से ने क्या कहा, पता है? च्वांगत्से ने कहा : या तो दुख मनाओ, या तो खंजड़ी बजाओ। दोनों के बीच में खड़े होने की कोई जगह नहीं है। दो के बीच में खड़े होने की कोई जगह नहीं। और दुखी मैं क्यों होऊं? परमात्मा को धन्यवाद दे रहा हूं कि इतने दिन जीवन दिया—आश्चर्य! उसने इतनी मेरी सेवा की—आश्चर्य! उसने मुझे इतना प्रेम दिया—आश्चर्य! और विदा के क्षण में, अगर मैं खंजड़ी बजाकर विदा भी न दे सकूं, तो बहुत अकर्तव्य है। मैं उसे विदा देर हा हूं। अब वह दूर, धीरे-धीरे दूर होती जाती होगी इस लोक से। मैं उसे विदा दे रहा हूं। मेरी खंजड़ी की आवाज धीमी होती जाती होगी। पर जाते क्षण मैंने उसे आनन्द से विदा दे दिया है।

हम हैं कि एक साथ रहकर भी आनन्द से नहीं रह पाते, और हम सुखवादी हैं! च्वांगत्से है, एक मृत पत्नी को खंजड़ी बजाकर आनन्द से विदा दे रहा है

और वह दुखवादी है ! तब फिर हमारा दुखवाद-सुखवाद बड़ा अजीब है । कौन दुखवादी है । हम दुखवादी हैं, जो चौबीस घंटे दुख में रहते हैं । च्वांगत्से परम सुखवादियों में है ।

लाओत्से, इसलिए, नहीं कहता कि स्वीकार कर लो किसी विवशता से, किसी हेल्पलेसनेस से; नहीं, स्वीकार करो किसी बल से, किसी शक्ति से, किसी सामर्थ्य से । स्वीकार कर लेना बड़ी सामर्थ्य है, बड़ा बल है । महावीर को कोई पत्थर मारता है । महावीर खड़े हैं । हमारे मन में होगा, कैसा कायर आदमी है ? पत्थर का जवाब तो और बड़े पत्थर से देना चाहिए । लेकिन महावीर खड़े हैं– **किसी कायरता से नहीं, किसी परम शक्ति के कारण** । इतनी विराट शक्ति है कि ये पत्थर लगते नहीं हैं । ये पत्थर चोट नहीं पहुंचा पाते । ये पत्थर भीतर किसी रिएक्शन को, प्रतिक्रिया को जन्म नहीं दे पाते । और यह पत्थर फेंकनेवाला बचकाना है । महावीर इसके प्रति दया से, पूरी करुणा से भर कर खड़े हैं कि कैसा पागल है, व्यर्थ मेहनत उठा रहा है ।

हम एक ही काम कर सकते हैं । या तो पत्थर का जवाब पत्थर से दें और या भाग खड़े हों । हमें दो के अतिरिक्त तीसरा विकल्प दिखाई नहीं पड़ता । महावीर का विकल्प तीसरा है । न तो वे भागते हैं, न वे पत्थर का जवाब पत्थर से देते हैं । वे पत्थर को लेते ही नहीं । पत्थर उनके भीतर किसी तरह का कोई व्यवधान नहीं पैदा करता है । और इससे भी वे बड़े लाभ में रहते हैं । हानि में नहीं रहते । इससे वे अपनी परम शांति, परम आनन्द में प्रतिष्ठित रहते हैं । वे इससे इंच भर यहां-वहां नहीं हटते ।

समस्त धर्म महापराक्रम से पैदा होता है, महापुरुषार्थ से । और समस्त धर्म अभय से जन्मता है, भय से नहीं । और समस्त धर्म आनन्द में प्रतिष्ठा है, दुख में नहीं । दुख का सूत्र है सुख की मांग । और आनन्द में प्रतिष्ठा का मार्ग है दुख की स्वीकृति ।

प्रश्नकर्ता : भगवान् श्री, आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य जाति को प्रकृति से दूर करके जीवन के अनेक आयामों को विकसित कर लिया है । कृपया बताएं कि वैज्ञानिक जीवन-प्रणाली की जटिलता के साथ ताओ-युग के सहज जीवन का सन्तुलन आज किस प्रकार स्थापित किया जाए ?

भगवान श्री : सन्तुलन स्थापित करने की बात नहीं है । लाओत्से और आधुनिक विज्ञान के बीच सन्तुलन स्थापित करने की बात नहीं है । लाओत्से की दृष्टि अगर ख्याल में आ जाए, तो बिल्कुल ही नवीन विज्ञान का जन्म होगा ।

बिलकुल नये विज्ञान का जन्म होगा। लाओत्से की दृष्टि पर एक नए विज्ञान का ही जन्म होगा, **क्योंकि उसके पूरे जीवन की दृष्टि ही और है।** अरस्तु के आधार पर जो विज्ञान विकसित हुआ है, वह विज्ञान बहुत अधूरा है, अज्ञानी है। उसने जीवन के छोटे-से हिस्से को ही समझने की कोशिश की है। और पूरे हिस्से को छोड़ दिया है। कहना चाहिए, वह बचकाना है, चाइल्डिश है। उसने समग्र को देखने का कोई प्रयास भी नहीं किया है। लेकिन अब तक वह कर भी नहीं सकता था। अब उसे करना पड़ेगा।

अणु-अस्त्र खोज लेने के बाद, अणु-ऊर्जा के विकास के बाद विज्ञान को अपनी समस्त पुरानी आधार-शिलाओं पर पुनर्विचार करने को मजबूर हो जाना पड़ेगा। क्यों? क्योंकि अगर विज्ञान अभी तक जैसे बढ़ रहा था, अब कहे कि हम ऐसे ही आगे बढ़ेंगे, तो **सिवाय मनुष्य-जाति के अन्त के और कोई रास्ता नहीं है।** विज्ञान को अपनी पूर्व धारणाओं को फिर से सोचना पड़ रहा है कि कहीं कोई बुनियादी भूल है, कि कहीं कोई गलती हो रही है, कि उसमें इतनी मेहनत कर रहे हैं और परिणाम बुरे आ रहे हैं। चेष्टा हम इतनी करते हैं कि जिसका कोई हिसाब नहीं और परिणाम बहुत विपरीत आते हैं। क्योंकि सारे श्रम का फल दुख ही होता है, इसलिए विज्ञान को अपनी पूर्व धारणाओं पर पुनः विचार करना पड़ रहा है।

और इस पुनर्विचार के बाद उसमें जो भूल कभी पकड़ में आएगी, वह अरस्तु के साथ हो गई भूल है। और तब जीवन के साथ संघर्ष का विज्ञान नहीं, **जीवन के साथ सहयोग का विज्ञान विकसित होगा।** अब इसमें फर्क होंगे। सारी आधार-शिला बदल जाएगी। जीवन के साथ संघर्ष का विज्ञान सोचता है विनाश करने की भाषा में। हम उदाहरण लें, तो आसानी हो जाएगी। समझ लें कि मच्छर हैं, जिनसे मलेरिया आता है। तो अरस्तु का विज्ञान यह सोचेगा कि मच्छरों को खत्म कर दो, तो मलेरिया नहीं आएगा। विनाश की भाषा फौरन ख्याल में आएगी कि मच्छरों को नष्ट कर दो, मलेरिया नहीं आएगा। लेकिन हो सकता है कि मच्छरों के होने से कुछ और भी आ रहा है। तब उसका आना भी रुक जाएगा। मच्छरों की मौजूदगी कुछ और भी कर रही हो सकती थी। वह भी रुक जाएगी। पर उसका पता तो देर से लगेगा। शायद तब लगे, जब तक मच्छर न बचें। और तब मच्छरों को रिप्लेस करने के लिए, उन्हें फिर से लाने के लिए हमें कुछ और उपाय करना पड़े!

लाओत्से के सामने अगर सवाल आएगा कि मच्छर हैं, उनका हम क्या

करें, तो लाओत्से इस भाषा में नहीं सोचेगा कि मच्छरों को नष्ट कर दो। दो ढंग हो सकते हैं। मच्छर के साथ सहयोग करने का ढंग किया जाए। या तो आदमी के शरीर को बदला जाए कि मच्छर नुकसान न पहुंचा पाएं। मच्छर का विनाश करने की कोई जरूरत नहीं है। मच्छर के शरीर को बदला जाए कि मच्छर मित्र हो जाएं, शत्रु न रह जाएं। या दोनों बातें हो सकती हैं।

अगर लाओत्से के ढंग से सोचा गया होता, तो यही होता कि हम कोई सामंजस्य खोजते। अगर मच्छर को बिलकुल मारा जा सकता है, तो इसमें कौन-सी कठिनाई है कि मच्छर को विष-रहित भी किया जा सकता है। अगर मच्छर को मारा जा सकता है, उसे विष-रहित किया जाता है, तो इसमें कौन-सी कठिनाई है कि मनुष्य के रेजिस्टेन्स को, सहन-शक्ति को भी बढ़ाया जा सकता है। लाओत्से तो पसन्द करेगा कि मनुष्य का रेजिस्टेन्स बढ़ा दिया जाए।

दो उपाय हैं। धूप बढ़ रही है बाहर। एक रास्ता तो यह है कि मैं छाता लेकर जाऊं। तब मैं धूप को दुश्मन मानकर रोक रहा हूं। और एक रास्ता यह है कि मैं शरीर को ऐसा बलिष्ट करके जाऊं कि धूप मुझे पीड़ा न दे पाए। लाओत्से कहेगा कि उचित है कि शरीर को बलिष्ट करके जाओ। और तब धूप तुम्हें मित्र मालूम पड़ेगी। क्योंकि इतनी धूप नहीं पड़ती है कि बलिष्ट शरीर को भी पीड़ा दे। शरीर को ऐसे बलिष्ट करके जाओ कि धूप शत्रु मालूम न पड़े। धूप तो कमजोर शरीर को शत्रु मालूम पड़ रही है।

हम जिस ढंग से सोचते हैं, यह उस पर निर्भर करता है कि हम कोई सहयोग का मार्ग खोजें। जीवन और हमारे बीच सहयोग स्थापित हो। **संघर्ष अंततः हमें आत्मघात में ले जाएगा।** क्योंकि संघर्ष हम कहां तक करेंगे? क्योंकि संघर्ष की भाषा यह है कि जो भी हमें नुकसान पहुंचाता हुआ मालूम पड़े, उसे समाप्त करो। अगर आज हम मच्छरों को समाप्त करते हैं और कल हमें मालूम पड़े कि चीनी हमें नुकसान पहुंचा रहे हैं, तो उन्हें भी हम समाप्त क्यों न करें? परसों हमें मालूम पड़ता है कि भारतीय हमें नुकसान पहुंचाते हैं, तो उन्हें भी समाप्त क्यों न करें? जो भाषा है युद्ध की, वह सब जगह लागू होगी। जो भी नुकसान पहुंचाता मालूम पड़े, उसे समाप्त करो। अमरीका सोचे, रूस को समाप्त करो; रूस सोचे, अमरीका को समाप्त करो।

लेकिन एटोमिक खोज के बाद रूस और अमरीका, दोनों के दिमाग में एक बात साफ हो गई है कि समाप्त करने की भाषा अब न चलेगी। क्योंकि अब कोई भी किसी को समाप्त करे, तो इस आशा में नहीं रह सकता कि हम बचेंगे।

हां, दस मिनट का फर्क पड़ सकता है समाप्त होने में। इससे ज्यादा फर्क नहीं पड़ेगा। जो शुरू करेगा, वह दस मिनट बाद समाप्त होगा। जो आक्रमक होगा, वह दस मिनट बाद समाप्त होगा। जो आक्रान्त होगा, डिफेंसिव होगा, वह दस मिनट पहले समाप्त हो जाएगा। लेकिन घोषणा करने का भी वक्त न मिलेगा कि हम जीत गए। तब रूस और अमरीका के मष्तिष्क में भी पिछले दस वर्षों में निरंतर एक ख्याल आया है कि सहयोग की भाषा में सोचें। संघर्ष की भाषा का अब कोई अर्थ नहीं है। साथी होकर को-एक्झिस्टेंस की भाषा में सोचें, **सह-अस्तित्व की भाषा में सोचें।**

मगर, आदमी के लिए ही सह-अस्तित्व की भाषा में सोचें, तो भी नहीं होगा। सह-अस्तित्व की पूरी भाषा चाहिए। फिर प्रकृति की तरफ भी वही भाषा चाहिए। फिर बीमारियों की तरफ भी वही भाषा होनी चाहिए। फिर हर चीज की तरफ वही भाषा होनी चाहिए। लाओत्से की भाषा सह-अस्तित्व की भाषा है समग्र की तरफ। और ऐसा नहीं हो सकता है कि कहें कि सिर्फ फलां आदमी के प्रति हमारा सह-अस्तित्व का भाव है, बाकी के प्रति हम संघर्ष जारी रखेंगे। यह नहीं हो सकता। क्योंकि अगर हमने बाकी के साथ संघर्ष जारी रखा तो तलाश रखेंगे मौके की कि कमी इस आदमी को भी समाप्त कर दें, तो झंझट से मुक्त हो जाएं।

नये विज्ञान का जन्म होगा– लाओत्से की समझ के अनुसार। और लाओत्से की समझ को ही अगर हम ठीक से समझें, तो लाओत्से का मतलब होता है पूर्व का मस्तिष्क, द ईस्टर्न माइन्ड। लाओत्से की समझ का अर्थ **होताहै पूर्वी मन, पूरब का सोचने का ढंग।** अरस्तु का मतलब होता है पश्चिम के सोचने का ढंग।

इसे ऐसा हम कहें : पश्चिम के सोचने का ढंग होता है तर्क, पूरब के सोचने का ढंग होता है **अनुभूति**। अब तक जो विज्ञान खड़ा हुआ है, वह आब्जेक्टिव है, वह वस्तु की खोजबीन पर खड़ा हुआ है। लाओत्से के साथ, योग के साथ, पतंजलि और बुद्ध के साथ कभी कोई विज्ञान खड़ा होगा, तो वह मनुष्य के मन की खोज पर होगा, वस्तु की खोज पर नहीं। संतुलन नहीं हो पाएगा, समन्वय भी नहीं हो पाएगा। हां, लाओत्से का विज्ञान अगर निर्मित होना शुरू हो जाए, तो आधुनिक विज्ञान, जो आज तक विकसित हुआ है, उसमें धीरे-धीरे आत्मसात हो जाएगा। क्योंकि यह सिर्फ खण्ड है। यह एक टुकड़ा है। **अनुभूति का विज्ञान विराट होगा।** उसमें यह टुकड़ा समाविष्ट हो सकता है। और समाविष्ट होकर यह अपनी सार्थकता पा लेगा। समाविष्ट होकर इसका जो दंश है, वह नष्ट हो जाएगा। और इसमें जो-जो मूल्यवान है, वह उभर आएगा।

और पश्चिम में बहुत से लक्षण दिखाई पड़ने शुरू हो गए, जिनसे साफ होत है कि कई तरफ से हमला शुरू हुआ है। लाओत्से कई तरफ से प्रवेश कर रहा है लाओत्से का मतलब है पूरब। अब जैसे अमरीका का एक वस्तु-शिल्पी, आर्किटेक्ट है : राइट। उसने जो नया मकान बनाया है, वह लाओत्सियन है, लाओत्सेनुमा। उसके नये मकान की जो सारी-सारी योजना है, वह यह है कि मकान ऐसा होना चाहि कि वह आसपास के जमीन के टुकड़े से, आसपास के पहाड़ के टुकड़े से, आसपास के वृक्षों से पृथक न हो, वह उनका हिस्सा हो। तो अगर राइट एक मकान बनाएगा और बड़ा वृक्ष आ जाएगा, तो वह वृक्ष को नहीं काटेगा, मकान को काटेगा। कहेगा कि मकान आदमी के हाथ की बनाई चीज है, कट सकता है। अगर एक वृक्ष, कमरे के बीच एक वृक्ष आ जाएगा, तो राइट उसको बचाने की कोशिश करेगा, चाहे इस कमरे को थोड़ा तोड़ना-फोड़ना भी क्यों न पड़े। वृक्ष नहीं तोड़ा जा सकता। वृक्ष यहीं रहेगा।

बैठक खाने में भी वृक्ष खड़ा रहेगा और वह बैठकखाने को ऐसा बनाएगा कि वृक्ष के साथ उसका तालमेल रहे, एक संगीत बन जाए। तो राइट ने जो मकान बनाए हैं, वे प्रकृति के हिस्से हैं। अगर दूर से उन्हें देखें तो पता भी नहीं चलेगा कि मकान हैं। क्योंकि लाओत्से कहता है कि ऐसे मकान जो दिखाई पड़ जाएं, वे वाइलेंट हैं, हिंसक हैं। वाइलेंट हैं हीं, जैसा कि यह तुम्हारा वुडलैण्ड का मकान है, यह वाइलेंट है। अगर छब्बीस मंजिलों तक मकान जाएंगे, तो वृक्ष कहाँ रहेंगे ? पहाड़ कहां रह जाएंगे ? आदमी कहां रहेगा ? वे सब खो जाएंगे। मकान नंगा खड़ा रह जाएगा। यह बेतुका है। उनका कोई को-इक्जिसटेंस, सह-अस्तित्व नहीं होगा। वह अकेले ही खड़ा हो जाएगा अपनी अकड़ में। मकान तो ऐसा हो कि वृक्ष उसको छाये हुए हों, पहाड़ उसको स्पर्श करते हों, नदियां उसके पास आवाज करती हों। आदमी उसके पास से गुजरे, तो नाचीज न हो जाए। ऐसा न लगे कि वह कीड़ा-मकोड़ा है। अपनी ही बनाई हुई चीज के सामने आदमी कीड़ा-मकोड़ा हो जाए, तो खतरनाक उसके परिणाम हैं।

राइट जो अब नये ढंग के मकान बनाता है, वे मकान ऐसे हैं कि उन मकानों में बगीचे भी भीतर चले जाएंगे, लान भी भीतर प्रवेश कर जाएगा, छतों पर वृक्ष हो जाएंगे, घासपात उग आएंगे, जिनको उखाड़ कर नहीं फेंका जाएगा। मकान ऐसा होगा कि जैसे **प्रकृति में अपने आप उग आया हो।**

इट हैज़ ग्रोन । ऐसा नहीं कि तुमने बना दिया, थोप दिया ऊपर से। **जैसे वृक्ष उगते हैं, वैसे यह मकान भी उगा है ।**

राइट का और उसके नए वास्तु-शिल्प का बहुत प्रभाव हुआ है । अमरीका में, यूरोप में भी । क्योंकि उसके मकान में एक और ही सौन्दर्य है । उसके मकान की छाया में एक और ही रस है । उसके मकान में बैठना प्रकृति से टूटना नहीं है, प्रकृति में ही होना है। **तो हजार रास्तों से पश्चिम के मन में यह लाओत्सियन ख्याल, लाओत्सेवादी विचार प्रवेश कर कर रहे हैं।** हजार –हजार रास्तों से ।

नया कवि है । नया कवि तुक नहीं बांधता है, व्याकरण की चिन्ता नहीं करता है । क्योंकि लाओत्से कहता है कि हवाएं जब बहती हैं, तब तुमने कभी सुना है, उन्होंने व्याकरण की फिक्र की है ? और जब बादल गरजते हैं, तब तुमने कभी सुना है कि वे कोई तुक बांधते हैं? फिर भी उनका अपना एक छन्द है । **छन्दहीन छन्द है** । तो सारे पश्चिम पर, सारी दुनिया पर काव्य उतर रहा है, जो छन्दहीन है। उसमें एक आन्तरिक लय है, लेकिन ऊपरी बिठाव नहीं है । उसमें तुकबंदी नहीं है, मात्रा नहीं है, शब्दों की टोह नहीं है । फिर भी भीतर एक बहाव है, प्रवाह है। एक धारा है। **और उस धारा में संयुक्त संगीत है ।**

पश्चिम में नए चित्रकार चित्र बना रहे हैं । ऐसे चित्रकार हैं कुछ, जिन्होंने अपने चित्रों पर फ्रेम लगाना बन्द कर दिया है । क्योंकि फ्रेम कहीं तो नहीं होता है, सिवाय आदमी की बनाई हुई चीजों पर । आकाश में कोई फ्रेम नहीं है, सूरज निकलता है फ्रेमलेस । कहीं कोई फ्रेम नहीं है । तारे बिना फ्रेम के हैं । फूल खिलते हैं, वृक्ष होते हैं, सब एण्डलेस इक्सटेन्सन हैं, अन्त-हीन विस्तार हैं । **कहीं कोई चीज खत्म होती** नहीं मालूम पड़ती। सब चीजें चलती हुई जाती हैं । और ही बढ़ती चली जाएं, चलती ही चली जाएं । तो चित्रकार बना रहे हैं चित्र, जिनको फ्रेम नहीं लगा रहे हैं । वे कहते हैं कि फ्रेम नहीं लगेंगे, क्योंकि फ्रेम आदमी का बिठाया हुआ हिस्सा है । चित्र के भीतर सब आ जाना चाहिए, ऐसा भी जरूरी नहीं है।

लाओत्से के अनुसार पेंटिंग पैदा हुई थी चीन में – आज से सैकड़ों साल पहले । ताओ चित्रकला अलग ही चित्रकला है। क्योंकि लाओत्से जैसा आदमी जब भी होता है, तब उसकी दृष्टि को लेकर काम सब दिशाओं में शुरू होता है। तो लाओत्से के अनुसार चित्र बनने शुरू हुए थे । उन चित्रों के मजे ही और

हैं ! उन चित्रों में फ्रेम नहीं हैं। उन चित्रों में चीजें शुरू और अंत नहीं होतीं। **जिन्दगी में कहीं कोई चीज शुरू और अन्त नहीं होती।** सब चीज एन्डलेस है, बिगनिंगलेस है, अनन्त है, अनादि है। सिर्फ हम जो चीजें बनाते हैं, वे ही शुरू और अंत होती हैं। तो लाओत्से के चित्रकार जो चित्र बनाते हैं, वे कहीं से भी शुरू हो सकते हैं। और कहीं भी वे समाप्त हो सकते हैं।

अब आधुनिक चित्रकला में वह बात प्रवेश कर रही है। नई कथा में वह बात प्रवेश कर रही है। कथा कहीं से भी शुरू होती है। पुरानी कथा में क्या था ? एक था राजा, वहीं से शुरू होती थी। एक आरम्भ था और एक अन्त था। विवाह हो गया, फिर वे दोनों सुख से रहने लगे। यह सब चीजें एक फ्रेम के बीच हैं, पूरी होती हैं। नई कथा कहीं से भी शुरू होती है। नई कथा भी पूरी हो जाती है। सच पूछा जाए, तो नई कथा पूरी होती ही नहीं है,। शुरू होती है। वह एक फ्रैगमेन्ट है, एक खण्ड है। क्योंकि लाओ-त्सियन, लाओत्सेवादी जो विचार है, जो ख्याल है, वह यह है कि हम जो कुछ भी कहें, वह एक फ्रैगमेंट भर होगा। वह पूरा नहीं होगा। हम खुद ही पूरे नहीं हैं। सब चीजें खंडित हैं, तो खंड ही रहने दो। फिर उसको पूरा करने की नाहक चेष्टा मत दिखाओ। अन्यथा सब विकृत होगा, कुरूप हो जाएगा।

काव्य में, चित्र में, संगीत में, स्थापत्य में, मूर्ति में, विज्ञान में सब तरफ से पूरब का मन प्रवेश कर रहा है। और, पश्चिम बहुत आक्रान्त है, पश्चिम बहुत भयभीत है। हरमन हैस ने कहीं लिखा है कि पश्चिम को पता चलेगा शीघ्र कि तुमने पूरब के ऊपर हमला करके जो विजय पा ली थी, वह बहुत थोड़े दिन की थी। लेकिन जिस दिन पूरब अपनी पूरी अंतर्भावनाओं को लेकर हमला कर देगा, उस दिन **उसकी विजय स्थायी होगी।** तुमने जो विजय पा ली थी, वह बहुत ऊपरी ही सिद्ध होने वाली थी। क्योंकि वह बन्दूक के कुन्दे पर थी। लेकिन अगर कभी पूरब अपने पूरे अनुभव को, जिसे उसने हजारों वर्षों में पाला है, लेकर हमला करेगा, निश्चित ही उसका हमला भी और तरह का होगा। **क्योंकि अनुभूति हमला नहीं करती,** चुपचाप न मालूम किस कोने से प्रवेश कर रही है।

पश्चिम आक्रान्त है। और पश्चिम को यह बात रोज-रोज अनुभव हो रही है कि उसके मापदंड हिल रहे हैं। उसने जो तय किया था, वह कांप रहा है।

और पूरब बड़े जोर से जैसे आकाश में अचानक बादल छा जाए, वैसे

छाता जा रहा है। धीरे-धीरे वह पूरे पश्चिम को घेर लेगा । स्वाभाविक है, क्योंकि पश्चिम की पूरी पकड़, ठीक से हम समझें, तो ऊपरी है, सुपरफिसियल है । सतह पर । और सतह पर है, इसलिए पश्चिम जल्दी सफल हो रहा है । पूरब की सारी पकड़ इतनी आत्मगत और गहरी है कि पूरब जल्दी सफल नहीं हो सकता । ध्यान रहे, मौसमी फूल चार महीनों में लग जाते हैं, दो महीनों में लग जाते हैं । स्थायी फूल लगाने को तो वर्षों लग जाते हैं।

पूरब की पकड़ गहरी है । इसीलिए बहुत समय, हजारों वर्ष लग जाते हैं, तब कहीं उसकी एकाध धारणा विजय पाती है । पश्चिम की धारणाएं बहुत ऊपरी हैं । सौ वर्ष में एक धारणा विजय पाती है और अस्त हो जाती है । लेकिन पूरब प्रतीक्षा कर सकता है । पूरब बहुत प्रतीक्षा कर सकता है और राह देख सकता है कि जब मौका आये ! तो अब पश्चिम पराजय के किनारे खड़ा हो गया है । और जब वह पराजय के किनारे पर खड़ा है, तब पूरब ने जो जाना है, वह वहां फैल जा सकता है।

लाओत्से पूरब की अन्तरतम प्रज्ञा है – द इनरमोस्ट विजडम ! **जो सारभूत है पूरब का. वह लाओत्से में छिपा है ।**

सन्तुलन नहीं होगा, समन्वय नहीं होगा। लाओत्से की धारणा पर एक नए विज्ञान का जन्म हो सकता है । **और वह जन्म जल्दी होगा** । क्योंकि बहुत-सी बातें हैं, जो आपके ख्याल में एकदम से नहीं आ सकतीं । जैसे, यूक्लिड की ज्यामेटरी पश्चिम का आधार थी । अब तक सारे विज्ञान के नीचे गणित का जो फैलाव था, वह यूक्लिडियन था, यूक्लिडीय था । और कोई सोच भी नहीं सकता था कि नान-युक्लिडियन गैर-यूक्लिडियन ज्यामिटरी उसको बदल देगी । कभी कोई सोच नहीं सकता था । लेकिन पिछले एक सौ पचास वर्षों में यूक्लिड के आधार हिल गए और उसकी जगह नान-यूक्लिडियन ज्यामेटरी आ गई । और यह ज्यामेटरी बिलकुल लाओत्सियन, लाओत्सेवादी है । कोई जानता नहीं कि वह लाओत्सियन है, लेकिन वह बिलकुल लाओ त्सियन है ।

यूक्लिड कहता है कि दो समानांतर रेखाएं कहीं नहीं मिलतीं । नान-यूक्लिडियन ज्यामेटरी कहती है कि दो समानांतर रेखाएं मिली हुई हैं। तो यह लाओत्सियन सूत्र है कि वे मिली हुई हैं। तुम्हारे खींचने की कमजोरी है कि तुम आखिर तक नहीं खींचते, अन्यथा वे मिल जाएंगी । तुम खींचे चले जाओ, एक वक्त आएगा कि वे मिल जाएंगी : तुम बहुत निकट देखते हो, दूर नहीं

देखते। **लेकिन दूर निकट का हिस्सा है।** और अब स्वीकार करना पड़ रहा है कि अगर कोई दो तरफ को दो समानांतर सरल रेखाएं अन्त-हीन बढ़ाई जाए, तो वे मिल जाएंगी।

फिर यूक्लिड कहता है कि किसी भी वर्तुल का, किसी भी सरकिल का, कोई भी खण्ड स्टेट लाइन, सीधी रेखा नहीं हो सकता। कैसे होगा? एक वर्तुल है। उसका हम एक टुकड़ा तोड़ें, तो वह घूमा ही हुआ होगा। स्ट्रेट, सीधा नहीं हो सकता। नान-यूक्लिडियन ज्यामेटरी कहती है कि स्ट्रेट लाइन भी, सीधी रेखा भी बड़े वर्तुल का हिस्सा है। कितनी ही सीधी रखो, लेकिन अगर तुम दोनों तरफ खींचते जाओगे, तो वर्तुल निर्मित होता चला जाएगा। और अब स्वीकार करना पड़ रहा है कि वह बात ठीक है। क्योंकि इस पृथ्वी पर हम कोई भी सीधी रेखा खींचे, वह सीधी नहीं होगी। क्योंकि पृथ्वी गोल है।

उदाहरण के लिए मैं इस कमरे में – यह हमारा कमरा बिलकुल सीधा दिखाई पड़ रहा है न – यह रेखा खींचता हूं। यह रेखा बिलकुल सीधी है। लेकिन चूंकि पृथ्वी गोल है, इसलिए यह रेखा सीधी नहीं हो सकती। यह गोल पृथ्वी का, जो बहुत बड़ा गोल है, उसका एक छोटा-सा खण्ड है। अगर हम किसी भी सीधी रेखा को खींचते चले जाएं दोनों तरफ, तो अन्त में वर्तुल निर्मित हो जाएगा। इसका मतलब हुआ कि सब सीधी रेखाएं वर्तुल के खण्ड हैं। और यूक्लिड कहता था कि वर्तुल का खण्ड सीधी रेखा नहीं हो सकता।

यूक्लिड की ज्यामेटरी की जगह गैर-यूक्लिडीय ज्यामेटरी आ गई है।

पिछले दो सौ वर्षों में पश्चिम के साइंस का जो बुनियादी आधार था, वह था सरटेन्टी, निश्चयात्मकता। क्योंकि विज्ञान अगर निश्चित न हो, तो काव्य और विज्ञान में फर्क क्या है? विज्ञान को बिलकुल निश्चित होना चाहिए, तभी विज्ञान है। लेकिन अभी पिछले पन्द्रह वर्षों में नया सिद्धान्त आया है। **वह है अनसरटेन्टी का अनिश्चय का।** क्योंकि जैसे ही हमने परमाणु को तोड़ा और इलेक्ट्रान तक पहुंचे, वैसे ही हमको पता चला कि इलेक्ट्रोन का जो व्यवहार है, वह अनसरटेन है, उसके बाबत नहीं कहा जा सकता कि वह क्या करेगा?

इलेक्ट्रान का व्यवहार जो है, वह आदमी जैसा है। **अगर आदमी सच्चा हो, तो आदमी के बाबत नहीं कहा जा सकता कि वह क्या करेगा?** हां, झूठा आदमी हो, तो उसके बाबत कहा जा सकता है कि वह क्या करेगा?

वह सुबह उठकर क्या करेगा, तब बराबर कहा जा सकता है। दोपहर क्या करेगा, कहा जा सकता है । शाम क्या करेगा, कहा जा सकता है। रात क्या करेगा कहा जा सकता है । उसका पूरा भविष्य लिखा जा सकता है कि वह तीन दफे क्रोध करेगा दिन में, छ दफे सिगरेट पीएगा, सात दफे फलां काम करेगा, कहा जा सकता है । लेकिन अथेन्टिक, प्रामाणिक आदमी की बाबत कल का नहीं कहा जा सकता कि वह क्या करेगा । कल सुबह वह क्या करेगा, नहीं कहा जा सकता ।

रात वह अथेन्टिक आदमी उठकर, और सोई हुई यशोधरा को छोड़कर चला जाएगा, यह नहीं कहा जा सकता । सोच भी नहीं सकती थी यशोधरा कि आदमी जो रात साथ सोया था, एक दिन का बच्चा था अभी पैदा हुआ, वह चुपचाप रात नदारत हो जाएगा । वह उसकी कल्पना के भी भीतर नहीं आ सकता था। कोई कारण ही दिखाई नहीं पड़ता था कि यह आदमी कल सुबह अचानक नदारत हो जाएगा। अथेन्टिक, प्रमाणिक आदमी अनिश्चित होगा। **अनिश्चित, अर्थात् स्वतंत्र होगा। निश्चित अर्थात् गुलाम होगा।**

हम सोचते थे कि पदार्थ तो निश्चित होगा, क्योंकि पदार्थ तो पदार्थ है । लेकिन अब पदार्थ रहा नहीं । अब पदार्थ ऊर्जा है, इनर्जी है । और इनर्जी अनिश्चित है । इसलिए पिछले पन्द्रह वर्षों में जो विज्ञान की गहनतम खोज है, वह है प्रिंसिपल आफ अनसरटेन्टी। अब अगर विज्ञान भी अनसरटेन है तो काव्य और विज्ञान में अन्तर क्या रहा?

आइंसटीन ने अपने अन्तिम दिनों में कहा कि बहुत शीघ्र वह वक्त आयेगा, जब वैज्ञानिकों के वक्तव्य मिस्टिक के वक्तव्य मालूम पड़ने लगेंगे । ऐसा मालूम होगा कि वे **कोई रहस्यवादियों के वक्तव्य हैं**। और एडिंगटन ने अपने संस्मरण में लिखा है कि जब मैंने सोचना शुरू किया था, तब मैं सोचता था कि जगत् एक वस्तु है । और जब मैं अपना जीवन समाप्त कर रहा हूं, तब मैं कह सकता हूं कि जगत एक वस्तु नहीं है, विचार है । इट रिजेम्बल्स मोर ए थाट दैन ए थिंग।

विचार और वस्तु में बड़ा फर्क है। और वैज्ञानिक कहे कि जगत् एक विचार जैसा मालूम पड़ता है, वस्तु जैसा नहीं, तो फिर जिन ऋषियों ने कहा कि जगत् एक ब्रह्म है, उनसे, क्या **फर्क रहा** ? ऋषियों ने कहा था कि जगत एक आत्मा है, जगत् एक चैतन्य है। और एडिंगटन कहता है, गणितज्ञ, वैज्ञानिक कहता है कि जगत् एक विचार जैसा मालूम पड़ता है, वस्तु जैसा नहीं।

नहीं ! तो एडिंगटन के वक्तव्य और ऋषियों के वक्तव्य में फासला नहीं रह जाता है ।

विज्ञान जगह-जगह से टूट रहा है। उसका घर गिर रहा है । और यह सदी पूरी होते-होते विज्ञान का भवन धीरे-धीरे विनष्ट हो जाएगा। और उसकी जगह एक बहुत नई जीवन- चेतना ले लेगी। और वह जीवन-चेतना सहयोग की. विरोट के साथ एक होने की होगी। **यह जीवन की धारा होगी, ब्रह्मवादी होगी,** वस्तुवादी नहीं । समन्वय नहीं होगा दोनों के बीच । यह खंड तो टूटेगा और गिरेगा । और विराट का अभ्युदय इसके भीतर से हो सकता है । होना चाहिए। होने की पूरी सम्भावना है।

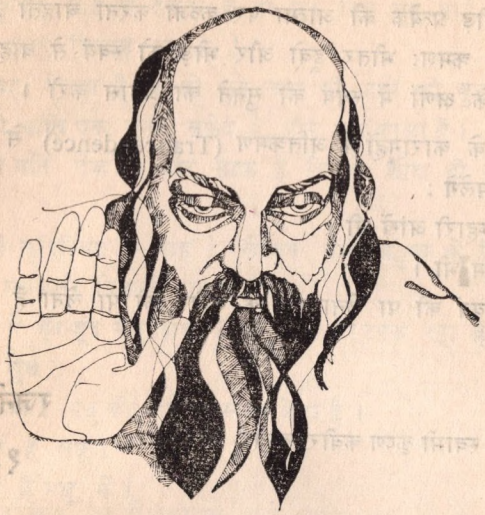

अज्ञात के हस्ताक्षर....

संकलन : स्वामी चैतन्य भारती

भीतर डूबो और भीड़ को स्वयं से बाहर करो

प्रिय कृष्ण कबीर,

प्रेम । चेतना की सूक्ष्म वाणी प्रत्येक के पास है ।

लेकिन हम उसके प्रति व्यवस्थित रूप से बहरे बन गये है।

दूसरों के अनुगमन से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को इतना दीन बना देता है कि वह स्वयं को ही सुनने, जानने और मानने में असमर्थ हो जाता है ।

और फिर स्वभावतः एक ऐसे नकली और थोथे जीवन का जन्म होता है जो कि मृत्यु से भी ज्यादा मृत होता है ।

कंठ हमारा, और वाणी दूसरों की !

बुद्धि हमारी और विचार दूसरों के !

समाज व्यक्ति को सब भांति नष्ट करता है ।

और भीड़ प्रत्येक की आत्मा पर कब्जा करना चाहती है।
इसलिए क्रमशः भीतर डूबो और भीड़ को स्वयं से बाहर करो।
शांति के क्षणों में स्वयं को सुनने का प्रयास करो।

समाज के कारागृहों के अतिक्रमण (Trancendence) से ही तुम्हारे कान तुम्हें वापिस मिलेंगे :
और तुम्हारी आंखें भी।
और तुम भी।
और स्वयं को पा लेना प्रभु के मंदिर को पा लेना है।

रजनीश के प्रणाम

(प्रतिः स्वामी कृष्ण कबीर, बम्बई, भारत)

१८-५-१९७१

बूंद-बूंद सुखों में—परमात्मा का विस्मरण

प्यारी मौनू,

प्रेम। बुद्ध अक्सर कहते थे एक कथा।
वह मनुष्य की ही कथा है।

वह कथा पूरे संसार की ही कथा है।
कहते थे वे : "एक यात्री किसी पर्वतीय निर्जन में पीछा करते एक पागल हाथी से बचने को भाग रहा है।
निश्चय ही जीवन और मृत्यु का सवाल है उसके लिए और वह पूरी शक्ति लगाकर दौड़ता है और पहुंच जाता है एक ऐसी चट्टान के निकट जिसके आगे कि भयंकर गड्ढ है और जिस पर कि मार्ग भी समाप्त होता है और पीछे लौटना संभव नहीं है क्योंकि हाथी अभी भी पीछे चला आ रहा है।
मरता क्या न करता!
वह कोई और उपाय न देख एक लता को पकड़कर खाई में लटक जाता है।
लता कमजोर है और किसी भी क्षण टूट सकती है।

वह नीचे झुककर खाई में देखता है तो एक सिंह मुंह बाये खड़ा है। और हाथी ऊपर चिंघाड़ रहा है !

और तभी वह देखता है कि दो चूहे लता की जड़ों को कुतर रहे हैं – **दिन और रात की भांति** एक उनमें सफेद है और एक काला है।

उन चूहों की गति तेज है और साफ है कि वे शीघ्र ही अपना कार्य पूरा कर लेंगे।

मौत अब जैसे सुनिश्चित है–आह ! लेकिन तभी चट्टान के किनारे खड़े एक वृक्ष पर एक मधुछता दिखायी पड़ता है।

उस मधुछत्ते से **बूंद-बूंद मधु** ठीक उसके ऊपर ही टपक रहा है।

जैसे बूंद-बूंद सुख।

वह मुंह खोलकर मधु की बूंद का स्वाद लेता है।

कितना मधुर है मधु।

कैसी मिठास है मधु में।

और मधु-मिठास के उस स्वाद-क्षण में मौत का साकार रूप वह पागल हाथी बिलकुल ही **भूल जाता है** – उसकी चट्टानों को कंपाती **चिंघाड़े भी सुनायी नहीं पड़ती हैं और नहीं स्मृति रहती है** नीचे मुंह बाये खड़े सिंह की और एकमात्र सहारे को काटते हुए चूहे भी खो जाते हैं।

सत्य जैसे खो जाता है स्वप्न में।

ऐसा ही संसार है।

ऐसा ही संसार है।

ऐसा ही संसार है।'

रजनीश के प्रणाम

(प्रति, मा योग क्रांति : जबलपुर)

१५-३-१९७१

आदमी की गहन मूर्छा

प्रिय कृष्ण सरस्वती,

प्रेम। सोया हुआ होना साधारणतः लोगों का जीने का ढंग है। और आदत इतनी गहरी है कि स्मरण भी नहीं आता है।

और फिर निरंतर अभ्यास से कुशलता भी उपलब्ध हो जाती है।

एक धर्मगुरू ने एक दिन किसी चर्च में बोलना शुरू किया तो कहा:

"'मैं आपके नगर जोहन्सटाउन में आकर अत्यंत आनंदित हूं।"

"और फिर क्षण भर को रुका।

तभी एक व्यक्ति ने चौंककर कहा: "जोहन्सटाउन? नहीं, महोदय ग्रीनवर्ग!"

धर्मगुरु ने कहा: "मुझे ज्ञात है लेकिन मैं जानना चाहता था कि यहाँ कोई जागा हुआ भी है या नहीं?"

रजनीश के प्रणाम

(प्रति: स्वामी कृष्ण सरस्वती, अहमदाबाद)

२-४-१९७१

शास्त्रों से मन पसंद अर्थ निकालने की कुशलता

प्रिय कृष्ण सरस्वती,

प्रेम। शास्त्र दया योग्य हैं।

क्योंकि, आदमी उनमें से वही निकाल लेता है जो कि निकालना चाहता है।

शास्त्र आदमी के समक्ष बहुत असमर्थ हैं।

प्रसिद्ध आंग्ल-अभिनेता चार्ल्स बेनिस्टर (Charles Bannister) को किसी भोज में शराब पीते देखकर उसके निजी चिकित्सक ने रोका और कहा: अब उस गंदी चीज को और न पियो--और मैं कितनी बार तुमसे नहीं कह चुका हूं कि पृथ्वी पर शराब से बड़ा शत्रु तुम्हारा और कोई भी नहीं है?"

बेनिस्टर ने शराब पीते-पीते कहा: "ज्ञात है मुझे लेकिन क्या धर्मशास्त्र में यह आदेश नहीं दिया गया है कि शत्रुओं को प्रेम करो?"

रजनीश के प्रणाम

(प्रति: स्वामी कृष्ण सरस्वती, अहमदाबाद)

१-४-१९७१

यात्रायें–सूक्ष्म शरीर से

मेरे प्रिय,

प्रेम । जो जाना वह सत्य है।

मैं आता हूं।

तुम्हें जब भी मेरी जरूरत है–मैं आता हूं।

स्थूल शरीर की यात्रायें बन्द कर रहा हूं ताकि सूक्ष्म शरीर की यात्राओं पर ज्यादा ध्यान दे सकूं।

अज्ञात से–आकाश से तुम्हारे सिर पर उतरे हाथ मेरे ही थे और जिस आकृति को अचानक तुमने प्रत्यक्ष बनते और विलीन होते देखा वह मेरी ही थी ।

ऐसा अब जब भी हो तब तत्काल गहरे ध्यान में चले जाना ।

क्योंकि, तब तुम और भी बहुत कुछ जान, देख और समझ पाओगे ।

रजनीश के प्रणाम

१३–३–७१

[स्वामी चैतन्य बोधिसत्त्व, अहमदाबाद]

गीत

आंखों में उत्सुकता, प्राणों में प्यास
आज खुले आँगन पर फैला आकाश

(१)

बातों के जंगल से गुजरा है मौन
ढेर सी क्रियाओं के बीच खड़ा ध्यान
अनुभव के शिखरों पर बर्फीली शान्ति
पिघल-पिघल बन जाती गंगा का मान
रोम-रोम पंख हुए, पंख में उड़ान
दूर दूर जाकर भी था अपने पास

(२)

प्राण के निकुञ्जों से माधुरी बटोर
खेला है चेतन से बासन्ती फाग
फैली है सतरंगी धूप की सुगन्ध
हौले से जाग गया जीवन का राग
दर्शन की घड़ियों में सब कुछ था शान्त
आत्मा की घाटी में रह गया प्रकाश

(३)

कब से थी मुस्कानें ओठों में बन्द
सोये थे वीणा में कब से संगीत
ढूंढ़ती रही कब से कोकिला बसन्त
हारों के बीच छिपी कब से थी जीत
पर्वत से फूट पड़ा अमृत का स्रोत
रात की गहनता से भोर का विकास

साधु योग प्रीतम
(प्राध्यापक, हिन्दी - विभाग
राजकीय महा विद्यालय, भीलवाडा, (राज.)

अपरिचित

जबसे छूआ है तूने मेरे दिल के तार को,
मदमस्त हो गई है जिन्दगी की दास्ताँ।
खुलती नहीं जबान मैं कैसे करूँ बयाँ,
आबाद हो गई है मुहब्बत की बस्तियाँ।

कुछ ख़बर है तुझे तेरी आभा को देखकर,
अन्जाने में ही तुझसे कोई बात हो गई।
तुझ से मिली निग़ाह तो महसूस यह हुआ,
अपनी ही आरज़ू से मुलाकात हो गई।

उजयारे छा गए हैं तेरी लौ के तेज से।
क्या क्या बसा हुआ है तेरी एक जात में।
तुम कृष्ण हो, महावीर हो, गौतम हो
कौन हो ?
कितना अनोखा पन है तेरी बात बात में।

परिचित हूं किस कदर मैं तेरे रंग रूप से
गो इससे पेश्तर तुझे देखा कभी नहीं
तू अजनबी है फिर भी मेरे दिल की
धड़कनें
कहती हैं बार-बार कि तू अजनबी नहीं।

—भारव्दाज

भजन

युग – युग की थी प्यास सजनवा मेरे,
आज हुई बरसात अँगनवा मेरे।
झिरमिर-झिरमिर झरे रूप में भीजूं
नाचूं गाऊं तेरी छबि पर रीझूं।
एक तुम्हीं विश्वास, तुम्हें मन टेरे ।।१ ।।

मिले मुझे, जल मिला मीन को जैसे,
मिश्री धुलमिल जाय नीर में जैसे।
कैसे कृपा-बखान करूँ प्रिय मेरे ।।२।।

तुम मुझको भाते मैं तुमको भाऊँ,
कैसे मैं वह स्वाद अपूर्व बताऊँ।
बन्धन टूटे मेरे सभी धनेरे ।। ३ ।।

प्राणों के मन्दिर में तुम सजते हो,
साँसों की बीणा में तुम बजते हो।
रोम – रोम में रहते साँझ – सबेरे ।।४।।

तुम मेरे प्राणों में ऐसे आये,
अंधियारे में तड़ित कोंध ज्यों जाये।
खिला फूल सा 'प्रीतम' प्राण बसेरे ।।५।।

– योग प्रीतम

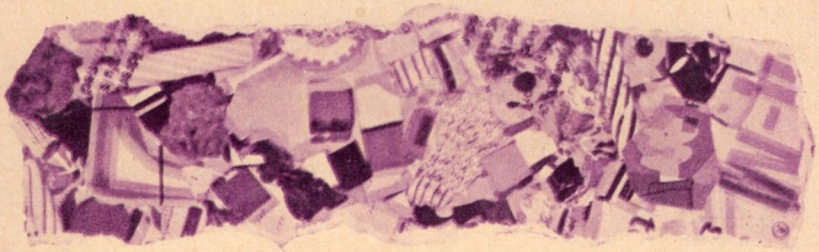

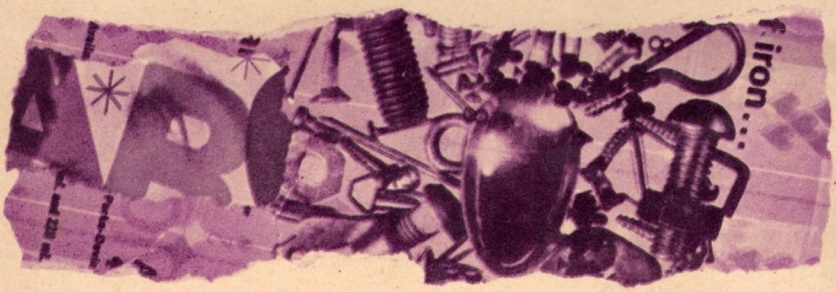

Good printing. Inviting. Communicative. Inspiring. Like religion—an experience.

selprint

249-251 A to Z Industrial Estate ☐ Fergusson Road ☐ Lower Parel ☐ Bombay 13. BC ☐ Phone : 370692